पाणिनीय उणादि और उसके व्याख्याकार

आचार्य सुश्रुत सामश्रमी

अलंकार प्रकाशन, जयपुर

पाणिनीय उणादि और उसके व्याख्याकार

प्रणेता

आचार्य सुश्रुत सामश्रमी

एम.ए. (संस्कृत, वेद), व्याकरणाचार्य, निरुक्ताचार्य

प्राध्यापक संस्कृत विभाग

आर्य स्नातकोत्तर महाविद्यालय, पानीपत (हरियाणा)

प्राक्कथन

प्रो. सुभाष वेदालंकार

प्रभारी -संस्कृत विभाग एवं वैदिक वाङ्मय विभाग,

महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर

अलंकार प्रकाशन, जयपुर

ग्रन्थ के विषय में

ग्रन्थ नाम	-	पाणिनीय उणादि और उसके व्याख्याकार
लेखक	-	आचार्य सुश्रुत सामश्रमी प्राध्यापक संस्कृत विभाग आर्य स्नातकोत्तर महाविद्यालय, पानीपत (हरियाणा)
प्रकाशक	-	अलंकार प्रकाशन, जयपुर 74, तनेजा ब्लॉक, आदर्श नगर, जयपुर - 302004 फोन नं. 0141-2609050
संस्करण	-	फरवरी, 2011
मूल्य	-	
मुद्रक	-	हरिहर प्रिन्टर्स, जयपुर
टाईप एवं लेजर सैटिंग	-	विजय कुमार सिंह, जयपुर

समर्पण

पूज्य पितामह स्व. गोवर्धन लाल तनेजा
एवं
पूज्य मातामह स्व. ठाकुरदास बतरा

की पुण्य स्मृति में लिखित यह ग्रन्थ

व्याकरण-मार्तण्ड, संस्कृत एवं वेद के धुरन्धर विद्वान,

प्रो. भीम सिंह

आचार्य संस्कृत, एवं पाली प्राकृत विभाग,

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

के करकमलों में

सादर समर्पित

-आचार्य सुश्रुत सामश्रमी

दिनांक 19-2-2011

राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थानम्
(मानित-विश्वविद्यालयः) जयपुर-परिसरः
मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार के अधीनस्थ

RASHTRIYA SANSKRIT SANSTHAN
(DEEMED UNIVERSITY) JAIPUR CAMPUS
(Under Ministry of Human Resource Development, Government of India)

क्रमांक : रा.सं.सं.ज./

दिनांक 1/10/2010

सुश्रुतो वर्धताम्

यद्यपि बहु नाधीषे, तथाऽपि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो माभूत् सकलं शकलं सकृच्छकृत्।।

उपर्युक्त कथन भाषा प्रयोग में व्याकरण की महत्ता का प्रतिपादन करता है। संश्लेषण-विश्लेषण विशिष्ट संस्कृत भाषा-साहित्य में प्रवेशार्थ व्याकरण का ज्ञान नितान्त अपेक्षित एवं उपयोगी है।

यद्यपि संस्कृत वैज्ञानिक एवं अन्वर्थ-पदावलीयुक्त भाषा है, तथापि सारे रूढ शब्दों की व्युत्पत्ति बताना पाणिन्यादि व्याकरणों से सम्भव न होने के कारण स्वयं पाणिनि ने शाकटायनकृत व्याकरण के अंश को 'उणादयो बहुलम्' सूत्र द्वारा अपने व्याकरण का महत्त्वपूर्ण अंग बनाया।

'सर्वं नाम धातुजमाह' इस निरुक्तीय-सिद्धान्त का पालन उणादिसूत्रों की रचना में स्पष्ट दृष्टगोचर होता है। उणादिसूत्रों के द्वारा ही उन रूढ शब्दों के प्रकृति-प्रत्ययादि-विश्लेषण द्वारा अनवर्थत्व को हम बता पाते हैं।

डॉ. सुश्रुत जी ने 'पाणिनीय उणादि एवं उसके व्याख्याकार' शीर्षक से लिखी अपनी पुस्तक में पाणिनीय व्याकरण, उणादि प्रक्रिया तथा उसके व्याख्याकारों पर पर्याप्त प्रकाश डालते हुए महाभाष्यकार पतञ्जलि के उणादि विषयक विचारों पर भी पूर्ण प्रकाश डाला है।
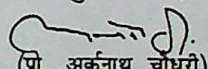
संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु।। (म.भा. 3।3।2।।)

उक्त कारिका के सन्दर्भ में डॉ. सुश्रुत ने अपने विचार को प्रबल तर्कों से पुष्ट किया है।

डॉ. सुश्रुत द्वारा लिखित यह पुस्तक व्याकरणशास्त्र के जिज्ञासुओं तथा संस्कृत भाषा के ज्ञानार्थियों के लिए उपयोगी एवं महत्वपूर्ण है।

महत्वपूर्ण पुस्तक निर्माण पर डॉ. सुश्रुत को अनेकशः शुभकामनाएँ।

(प्रो. अर्कनाथ चौधरी)
प्राचार्य

प्राक्कथन

करुणावरुणालय परमेश्वर ने विश्व के कल्याण के लिए सृष्टि के प्रारम्भ में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद का ज्ञान प्रदान किया। वेदों के अध्ययन के लिये वेदाङ्गों का महत्त्व सर्वविदित है। उनकी महिमा का वर्णन निम्न पद्य के द्वारा किया गया है -

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते
ज्योतिषमयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।
शिक्षा घ्राणन्तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।

इन वेदाङ्गों में भी व्याकरण का सर्वाधिक महत्त्व है। उसके बिना न तो वेद का सम्यक् अध्ययन एवं भाष्य किया जा सकता है, न ही संस्कृत-साहित्य के महासागर का गम्भीरता से अवगाहन किया जा सकता है। इसीलिये शास्त्रों में उपदेश दिया गया कि हे पुत्र! तू यदि अधिक नहीं पढ़ सकता तो व्याकरण तो पढ़ ही लेना, इसके बिना तेरा काम चलने वाला नहीं है।

व्याकरण में उणादि सूत्रों का भी गौरवपूर्ण स्थान है, उनके अध्ययन-अध्यापन एवं व्याख्या में मनीषियों ने कठोर परिश्रम किया है। आचार्य सुश्रुत सामश्रमी भी उनमें से एक हैं। श्री सामश्रमी का यह लघु-ग्रंथ **''पाणिनीय उणादि और उसके व्याख्याकार''** उन सूत्रों का महत्त्व दर्शाता है।

विद्वान लेखक ने इस ग्रंथ को चार अध्यायों में बांटा है। प्रथम अध्याय में विषय प्रवेश है, द्वितीय अध्याय **''उणादि के प्रवक्ता''** शीर्षक से है, इसमें काशकृत्स्न, शान्तनु, आपिशलि, पाणिनि, की चर्चा के उपरान्त ''पञ्चपादी'' एवं ''दशपादी'' पाठ के प्रवक्ताओं, कातन्त्रकार, चन्द्राचार्य आदि का विस्तृत विवरण दिया गया है।

तृतीय अध्याय **''उणादि के व्याख्याता''** शीर्षक से लिखा गया है, इसमें गोवर्धन, दामोदर, पुरुषोत्तम आदि उणादि सूत्रों के 21 व्याख्याताओं का विस्तृत विवरण दिया गया है। साथ ही उणादि कोश का सम्पादन, और महर्षि दयानन्द सरस्वती के साहस की भी चर्चा है। इसी अध्याय में ''दशपादी'' उणादि पाठ एवं ''दशपादी वृत्तिकार'' की भी चर्चा है। इन प्रसंगों में अनेक अज्ञातनाम विद्वानों का उल्लेख भी आचार्य सुश्रुत ने किया है।

चतुर्थ अध्याय में **''उणादि सूत्रों की विस्तृत व्याख्या''** है। ग्रंथ की प्रमाणिकता को बनाये रखने के लिये, विद्वान लेखन ने सन्दर्भ ग्रंथों की विस्तृत सूची भी दी है। व्याख्याकारों के तिथिक्रम का उल्लेख ग्रन्थ के महत्त्व को बढ़ा देता है।

आचार्य सुश्रुत ने यह प्रथम ग्रंथ अपने गुरुवर डॉ. (प्रो.) भीम सिंह आचार्य संस्कृत, पाली-प्राकृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुचेत्र (हरियाणा) को समर्पित किया है। प्रो. भीमसिंह व्याकरण के जाने-माने विद्वान् हैं। उनकी सशक्त लेखनी से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का प्रणयन हुआ है, उनका ''व्याकरण महाभाष्यम्'' (दो भागों में) एवं ''संस्कृत-व्याकरण दर्शन'', समस्त भारत में विख्यात है। प्रो. भीमसिंह के पूज्य पिताश्री स्व. विद्यानिधि जी वेद एवं व्याकरण के सुप्रसिद्ध मनीषी थे। उनके चरणों में बैठकर ही आचार्य सुश्रुत सामश्रमी की माता श्रीमती जय तनेजा (प्रो. मनीषा) ने वेद एवं व्याकरण का अध्ययन किया था। उन्हीं के संस्कार आचार्य सुश्रुत को मिले हैं।

सुश्रुत सामश्रमी द्वारा लिखित यह ग्रंथ वेद एवं संस्कृत के अध्येताओं में व्याकरण के प्रति यदि जिज्ञासा जगा सका, और उणादिसूत्रों के अध्ययन की और उन्मुख कर सका तो लेखक और प्रकाशक दोनों स्वयं को गौरवान्वित समझेगे।

व्याकरण के धुरन्धर विद्वान एवं अनेक पुस्तकों के लेखक प्रो. अर्कनाथ चौधरी प्राचार्य (राष्ट्रीय-संस्कृत-संस्थान, जयपुर परिसर) ने अपना आशीर्वचन दिया है, तदर्थ मैं धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

विश्वास है कि गुरुजनों एवं विद्वानों के आशीर्वाद से आचार्य सुश्रुत सामश्रमी की लेखनी से अनेक ग्रंथ भविष्य में प्रकाश में आयेंगे।

मैं आचार्य सुश्रुत सामश्रमी के उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ।

प्रो. सुभाष वेदालंकार
प्रभारी -संस्कृत विभाग एवं वैदिक वाङ्मय विभाग,
महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर
पूर्व आचार्य व अध्यक्ष संस्कृत विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

किञ्चित् वक्तव्य

"पाणिनीय उणादि एवं उसके व्याख्याकार" ग्रन्थ को सुविज्ञजनों के करकमलों में समर्पित करते हुए मुझे असीम आनन्द की अनुभूति हो रही है।

व्याकरण के अध्ययन में मेरी रुचि बाल्यकाल से ही रही है। सर्वप्रथम पाणिनिधाम तिलोरा (अजमेर) में एक वर्ष तक अष्टाध्यायी का अध्ययन करने के उपरान्त गुरुकुल प्रभात आश्रम (टीकरी) भोला झाल, मेरठ में पूज्य गुरुवर्य स्वामी विवेकानन्द जी की शरण में रहते हुए, प्रथमावृत्ति के अध्ययन का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ।

तदनन्तर न जाने क्यों कैसे मेरी संस्कृत भाषा के प्रति वितृष्णा पैदा हो गई। पानीपत आकर विद्यालय में प्रवेश लिया और संस्कृत छोड़ दी।

पूज्य पिताजी प्रो. सुभाष वेदालंकार एवं पूज्य अम्बा जी (श्रीमती जय तनेजा) (प्रो. मनीषा शास्त्री) की तीव्र इच्छा थी कि संस्कृत का विशेष अध्ययन करूं, किन्तु महाविद्यालय में प्रवेश लेकर मैंने बी. कॉम, एम.कॉम. करने का निर्णय लिया और संस्कृत से सर्वथा दूर रहा।

एम.कॉम. के पश्चात् अचानक संस्कृत के गम्भीर अध्ययन की तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई और मैं गुरुकुल रेवली (सोनीपत) जा पहुँचा। तलस्पर्शी विद्वान् पं. विजयपाल शास्त्री के चरणों में बैठक, प्रथमावृत्ति, काशिका, अष्टाध्यायी, महाभाष्य निरुक्त आदि का मनोयोग पूर्वक अध्ययन किया तथा व्याकरण एवं निरुक्त में आचार्य की उपाधि प्राप्त की।

पूज्य पिता जी की सेवा निवृत्ति पश्चात् एम.ए. संस्कृत (वेद विषय के साथ) उत्तीर्ण करके, शीघ्र नैट करके, आर्य स्नातकोत्तर

महाविद्यालय में नियुक्त हो गया। जयपुर के अध्ययन काल में ही उक्त ग्रंथ ''लघु-शोध-प्रबन्ध'' के रूप में लिखा था। ईश्वर की अनुपम अनुकम्पा, पूज्य माता पिता एवं गुरुजनों के आशीर्वाद से अब यह प्रकाशित हो रहा है। ग्रन्थ में पाणिनीय-उणादि के व्याख्याकारों के विवरण के साथ सूत्रों की व्याख्या भी दी गई है।

ग्रंथ को तैयार करने में मुझे अपने माता पिता के साथ अनेक गुरुजनों का सहयोग प्राप्त हुआ। तदर्थ सबको धन्यवाद।

पुस्तक के विषय में माननीय विद्वद्वरेण्य प्रो. अर्कनाथ चौधरी ने आशीर्वादात्मक वचन लिखे हैं, मैं उनका अत्यधिक आभारी हूँ।

अपने वन्दनीय गुरुवरेण्य व्याकरणमार्तण्ड प्रो. भीम सिंह जी के कर कमलों में इस ग्रंथ को समर्पित करते हुए मुझे अपार प्रसन्नता है।

यदि इस ग्रंथ को सुधी पाठकों ने अपने कंठ का हार बनाया, एवं व्याकरण तथा उणादि सूत्रों के अध्ययन के प्रति अग्रसर हुए तो मैं अपना प्रयास सफल एवं सार्थक समझूंगा।

आशा है गुरुजनों के आशीर्वाद से भविष्य में भी मैं लेखन द्वारा संस्कृत, वेद एवं व्याकरण की सेवा कर सकूंगा।

विदुषामनुचरः

आचार्य सुश्रुत सामश्रमी

पाणिनीय उणादि और उसके व्याख्याकार

विषयानुक्रमणिका

अध्याय - १

विषय प्रवेश

भारत की सभी सांस्कृतिक तथा व्यावहारिक प्रवृत्तियों का मूल वेद है। सांस्कृतिक तथा व्यावहारिक प्रवृत्तियों से अभिप्राय मानव–जीवन में धारण करने योग्य अथवा आचरण में लाने योग्य क्रिया–कलापों से है। 'जीवन में धारण करने योग्य' इस वाक्य को यदि पारिभाषिक शब्द से अभिहित किया जाये तो वह शब्द है 'धर्म'। अभिप्राय यह है कि भारतीय मनीषी चिन्तकों ने एवं आगम–शास्त्रों ने धारण करने योग्य विचारों को धर्म नाम से सम्बोधित किया है। **धारणात् धर्म इत्याहुः** (महाभारत) धारण करने योग्य विचार कौन से हैं अथवा धर्म क्या है इसमें परम प्रमाण वेद है। यथा –

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो ....
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।। मनु. २/७।।
..... धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।। मनु. २/२३।।
वेदोऽखिलो धर्ममूलम्.....................।। मनु. २/६।।

वैदिक वाङ्मय के क्रमिक विकास का अत्यन्त व्यवस्थित किन्तु अतिसंक्षिप्त विवरण निरुक्त में उपलब्ध होता है। निरुक्तकार महर्षि यास्क कहते हैं :–

'साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो बभूवुः, तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्यः उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च।'

(निरुक्त १.२०)

इसका अभिप्राय यह है कि वैदिक वाङ्मय के विकास को तीन

कालखण्डों में विभक्त किया जा सकता है। सबसे प्राचीन कालखण्ड है साक्षात्कार कालखण्ड। इस कालावधि में, चाहे वह पारम्परिक मतानुसार लगभग २ अरब वर्ष हो या आधुनिक मतानुसार ५,००० वर्ष हो, भारतीय मनीषियों ने पदार्थों के गुण–धर्म का साक्षात्कार किया और उसको मन्त्रात्मक शब्दराशि के रूप में अभिव्यक्त किया। पारम्परिक मतानुसार पदार्थों के गुण–धर्म और उनको व्यक्त करने वाली भाषा दोनों ही आरम्भिक ऋषियों को परमात्मा से प्राप्त हुई थीं। दूसरे कालखण्ड में साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने दूसरे असाक्षात्कृत ऋषियों को उपदेश के द्वारा मन्त्रों का सम्प्रदान किया। इस काल को मन्त्र सम्प्रदान काल कहा जा सकता है। पहले कालखण्ड के हजारों वर्ष के पश्चात् यह दूसरा कालखण्ड मानना उचित होगा। इसका कारण यही है कि भारतीय परम्परा में यह माना जाता है कि आरम्भ में निर्मल मेधाशक्ति वाले मनीषीजन ही प्रायः होते हैं इसलिये उन्हें तत्त्वसाक्षात्कार सीधे ही होता रहता है परन्तु उसके पश्चात् धीरे–धीरे मनुष्य की बुद्धि का ह्रास होने लगता है और प्रत्यक्षतः धर्मसाक्षात्कार नहीं होता इसलिये उपदेश की आवश्यकता होती है।

तीसरे कालखण्ड के विषय में कहा गया है कि पश्चात् काल में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों को केवल मन्त्रोपदेश से भी पदार्थों के धर्मबोध में क्लेश होने लगा इसलिये ऋषियों ने सरलता से बोधार्थ संहिताओं और वेदाङ्गों का समाम्नान किया। समाम्नान से तात्पर्य है तत्तद्विषय का संग्रह करके उसी क्रम से इसका अभ्यास करना। इस कालखण्ड को समाम्नान कालखण्ड नाम दिया जा सकता हैं।

अब हम उपसंहार के रूप में यह कह सकते हैं कि साक्षात्कारकाल में ऋषियों ने पदार्थों के गुणधर्म को विशिष्ट शब्दानुपूर्वी के रूप में अभिव्यक्त किया जिसको मन्त्र कहा जाता है। दूसरे मन्त्रसम्प्रदानकाल में जिन ऋषियों को साक्षात्कार नहीं भी हुआ था उनको भी उपदेश मात्र

से पदार्थों के गुणधर्म का बोध होने लगा। तीसरे और अन्तिम कालखण्ड में शाकल, वाष्कल, तैत्तिरीय, मैत्रायणी, माध्यन्दिन, कौथुम, शौनक, आदि संहिताओं का संग्रह और अभ्यास हुआ। इनके साथ ही इन संहिताओं को समझने के लिये वेदाङ्गों अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष इन वेदाङ्गों का प्रणयन और अभ्यास प्रारम्भ हुआ जिनकी सहायता से वैदिक वाङ्मय का सम्यग्बोध होता था।

वेदाङ्गों में शब्द के स्वरूप को स्थिर रखने की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वेदाङ्ग व्याकरण है। इसलिये सबसे अधिक बल भी व्याकरण के ऊपर ही दिया गया। व्याकरण की ही पूर्णता निरुक्त पर जाकर होती है इसलिये ये दोनों शास्त्र परस्पर सम्बद्ध रहे हैं। अर्थ की दृष्टि से निरुक्त प्रवृत्त होता है परन्तु शब्दस्वरूप की दृष्टि से व्याकरण की प्रवृत्ति होती है। उदाहरणार्थ गो शब्द के अर्थ को देखते हुए नैरुक्त अपनी कल्पना प्रस्तुत करता है। गच्छति, गवते, गिरति इत्यादि धातुओं अर्थात् क्रियाओं के कारक विशेष से गौ, पृथिवी, किरण इत्यादि अर्थ बोधित किये जाते हैं। वैयाकरण शब्द के स्वरूप का व्युत्पादन करता है गम् आदि धातु से डो प्रत्यय कर्तृकारक में कर देने पर गो शब्द का स्वरूप अवस्थित हो जाता है इस प्रकार वैदिक शब्दों के स्वरूप और अर्थ की सुरक्षा के अवधारण के लिये दोनों शास्त्रों की प्रवृत्ति हुई।

चूंकि व्याकरण का वेद से सीधा सम्बन्ध है अतः व्याकरण को महत्व दिया जाना स्वाभाविक ही है। व्याकरण की महत्ता को प्रकट करते हुए एक कवि कहते हैं –

उपासनीयं यत्नेन शास्त्रं व्याकरणं महत्।
प्रदीपभूतं सर्वासां विद्यानां यदवस्थितम्।।

इस व्याकरण शास्त्र के पांच अंग कहे तथा सुने जाते हैं। 'पञ्चाङ्गं व्याकरणम्' यह प्रसिद्धि लोक में है। जो व्याकरणतन्त्र हैं

उनमें सूत्र–धातु–गण–उणादि एवं लिङ्गानुशासन नाम से पांच भाग उपलब्ध होते हैं। इनमें सूत्रपाठ मुख्य है एवं अन्य चार खिल (गौण) हैं। परन्तु उणादि का वैदिक शब्दों के साधुत्व बोधन में अत्यन्त सहायक होने के कारण व्याकरण में विशिष्ट स्थान है।

अब कुछ उणादि–शास्त्र का सूत्र–पाठ की अपेक्षा क्या वैशिष्ट्य है यह थोड़ा सा लिखा जाता है।

१. उणादि – सूत्र निदर्शक मात्र होते हैं अर्थात् इनमें सभी प्रकृतियों एवं सभी प्रत्ययों को नहीं दिखाया जाता।

२. जिन शब्दों के साधुत्व को यहाँ प्रदर्शित किया जाता है उनके भी सभी कार्यों का वर्णन किया जाये यह आवश्यक नहीं है।

३. कुछ वैयाकरण उणादि को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक मानते हैं जबकि शाकटायन आदि कुछ अन्य व्युत्पन्न मानते हैं।

४. जिन शब्दों को वेद में अथवा प्रामाणिक व्यक्तियों के साहित्य एवं वाणी में प्रयुक्त देखा जाता है उन्हें उणादि में प्रकृति एवं प्रत्यय के रूप में अपठित होने पर भी वहीं सिद्ध कर लिया जाता है।

इन्हीं उपर्युक्त विशेषताओं को महाभाष्यकार द्वारा निम्न कारिकाओं में प्रकट किया गया है :–

बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम्।
कार्यसशेषविधेश्च तदुक्तं नैगमरूढिभवं हि सुसाधु।।
नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्।।
संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु।। महा. ३।३।२

अब इसके आगे दूसरे अध्याय में उणादि सूत्रों के विभिन्न प्रवक्ताओं तथा रचनाकारों का वर्णन किया जायेगा।

अध्याय - २
उणादि के प्रवक्ता

प्रत्येक शब्दानुशासन के प्रवक्ता को धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र और लिङ्गानुशासन रूपी खिल पाठों का प्रवचन करना होता है। इसलिए प्रत्येक शब्दानुशासन के प्रवक्ता ने उणादि सूत्रों का खिल रूप से प्रवचन किया होगा इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु सम्प्रति न तो पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरणों के उणादिसूत्र ही उपलब्ध हैं और न उनके सम्बन्ध में कोई सूचना ही प्राप्त होती है। इसलिए जिन प्राचीन वैयाकरणों के उणादिप्रवक्तृत्व में कुछ भी संकेत उपलब्ध होते हैं, अथवा जिनके उणादिपाठ सम्प्रति उपलब्ध हैं, उनके विषय में आगे लिखा जाता है –

१. काशकृत्स्न

काशकृत्स्नप्रोक्त उणादिसूत्र उपलब्ध नहीं है। काशकृत्स्नप्रोक्त धातुपाठ की जो चन्नवीर कवि की टीका प्रकाश में आई है, उसके सम्पादक ने अपनी भूमिका में लिखा है कि चन्नवीर ने पुरुषसूक्त की भी कन्नड़ टीका लिखी है। उसके कतिपय पाठों को उद्धृत करते हुए पुरुषसूक्त व्याख्या के पृष्ठ १८ पर ब्राह्मये पद के साधुत्व–प्रतिपादन के लिए निर्दिष्ट बृहो ममन्भणिश्च सूत्र उद्धृत किया गया है और अन्त में लिखा है कि यह बात काशकृत्स्न के दशपादी उणादि में कही गई है।

सम्पादक द्वारा उद्धृत सूत्र का पाठ कुछ भ्रष्ट है। चन्नवीर ने धातुपाठ की टीका में बृहेर्न्हरी मनि सूत्र उद्धृत किया है (द्र. पृ. ६७)। सम्भवतः यह पाठ भी मूल सूत्र का पाठ न होकर उसका एकदेश अथवा अर्थानुवाद हो।

सम्पादक महोदय ने काशकृत्स्न के जिस दशपादी उणादि का उल्लेख किया है, उसका संकेत उन्हें कहां से प्राप्त हुआ, इसका

इन्होंने कुछ भी संकेत नहीं किया। सम्प्रति उपलभ्यमान दशपादी उणादिसूत्र पञ्चपादी सूत्रों से उत्तरकालीन है। अतः यदि काशकृत्स्न का उणादिपाठ दशपादी हो, तब भी वह वर्तमान में उपलभ्यमान दशपादी पाठ नहीं है, इतना निश्चित है।

आचार्य चन्द्र ने धातुपाठ के प्रवचन में काशकृत्स्न के धातुपाठ का अनुकरण किया है यह बात पं. युधिष्ठिर जी द्वारा कृत 'सं. व्या. शास्त्र का इतिहास' द्वितीय भाग द्वारा जानी जा सकती है, जो कि पृ. सं. ३४ पर उल्लिखित है। यदि चन्द्रगोमी ने अपने उणादि सूत्रों के प्रवचन में भी काशकृत्स्न उणादि सूत्रों का अनुकरण किया हो, तो चान्द्र उणादिसूत्र में तीन पादों का दर्शन होने से यह अनुमान किया जा सकता है कि काशकृत्स्न उणादिपाठ में भी तीन पाद ही रहे होंगे। वर्तमान में उपलभ्यमान उणादि सूत्रों के प्रवचन का मूल आधार भी कोई प्राचीन त्रिपादी उणादिसूत्र थे। इसका विवेचन अगले अध्याय में किया जायेगा।

काशकृत्स्न के उणादिपाठ कि सम्बन्ध में परमादरणीय मीमांसक जी ने केवल काशकृत्स्न धातुपाठ के सम्पादक डॉ. ए.एन. नरसिंहिया के निर्देश को ही आधार माना है। यतः इस सम्बन्ध में वे अन्यत्र किसी स्थान से सूचना प्राप्त नहीं कर सके।

२. शन्तनु (सं. २६०० वि.पू.)

ऑफ्रेक्ट ने अपनी बृहद् हस्तलेखसूत्री (पृ. ६३, कॉलम १) में डॉ. कीलहॉर्न सम्पादित मध्यप्रदेश–हस्तलेख सूची (नागपुर) के आधार पर आचार्य शन्तनु के उणादिसूत्र के हस्तलेख का संकेत किया है।

शन्तनुप्रोक्त उणादिसूत्र की सूचना अन्य किसी भी स्थान से प्राप्त नहीं होती। सम्प्रति उपलभ्यमान शान्तनव फिट् सूत्र शान्तनव शब्दानुशासन का एक अंश है। इसलिए शन्तनु ने अपने शब्दानुशासन से सम्बद्ध किन्हीं उणादिसूत्रों का भी प्रवचन किया हो, इसमें सन्देह करने की कोई स्थिति नहीं।

३. आपिशलि (सं. २६०० वि.पू.)

आचार्य आपिशलि ने अपने शब्दानुशासन के खिल रूप धातुपाठ और गणपाठ का प्रवचन किया था, यह पं. मीमांसक जी के पूर्वोक्त ग्रन्थ में 'धातुपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता' एवं 'गणपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता' प्रकरणों में देखा जा सकता है। आचार्य ने स्वव्याकरण से सम्बद्ध किसी उणादिपाठ का भी अवश्य प्रवचन कियाा होगा, इसमें सन्देह का कोई अवसर नहीं। पुनरपि आपिशल उणादिपाठ सम्बन्धी कोई साक्षात् वचन अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ।

पञ्चपादी उणादिसूत्रों में जो धातु प्रत्यय तथा तत्सम्बन्धी अनुबन्ध उपलब्ध होते हैं, उनसे भी इस विषय में कोई प्रकाश नहीं पड़ता कि पञ्चपादी उणादि का सम्बन्ध किस शब्दानुशासन के साथ है। क्योंकि आपिशल धातु, प्रत्यय और तत्सम्बद्ध अनुबन्ध सभी प्रायः पाणिनीय धातु प्रत्यय और अनुबन्धों के साथ समानता रखते हैं। हां, उणादिसूत्रों में एक **ञमन्ताड्डः** सूत्र ऐसा है, जिसके आधार पर कुछ अनुमान किया जा सकता है।

पाणिनीय प्रत्याहार सूत्र **ञमङ्णनम्** में जो वर्णानुपूर्वी है, उसे यदि **ङञवनणमम्** इस वर्णक्रम से रखा जाए, तो पाणिनीय शब्दानुशासन में इस क्रम–परिवर्तन से ञकारान्त पद न होने से कोई दोष नहीं होगा, परन्तु इससे मकारान्तों को मुट् का आगम प्राप्त हो जायेगा, जो कि इष्ट नहीं है। तथापि आपिशलि के **'ञमङणनाः स्वरस्थाना नासिका स्थानाश्च'** शिक्षासूत्र (१/२४) के अनुनासिक वर्णों के पाठक्रम पर ध्यान दिया जाये, तो स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्याहार सूत्र का ञ म ङ ण न वर्णक्रम आपिशल अभिप्रेत है, और इसी कारण उसने अपनी शिक्षा में भी उसी क्रम को अपनाया है। इससे विदित है कि पाणिनीय प्रत्याहारसूत्र में आपिशल वर्णक्रम को ही स्वीकार किया है, यह क्रम उनका अपना नहीं है।

आपिशलि ने प्रत्याहारसूत्र में वर्णक्रम का परित्याग करके **ञम ङ ण नम्** यह क्रम क्यों अपनाया? यदि इस पर विचार किया जाये तो मानना होगा कि उसे कहीं पर ञम् प्रत्याहार बनाना इष्ट रहा होगा। वह ञम् प्रत्याहार उणादिपाठ के **ञमन्ताड्डः** सूत्र में उपलब्ध होता है। यद्यपि **ञमन्ताड्डः** सूत्र पञ्चपादी और दशपादी दोनों पाठों में समानरूप से पठित है, पुनरपि दशपादी पाठ का प्रवचन पाठ मूल के आधार पर हुआ है, इसलिए पञ्चपादी पाठ मूल होने से प्राचीन है। हां, कई वैयाकरण पञ्चपादी उणादिपाठ को आचार्य पाणिनि का प्रवचन मानते हैं, परन्तु **ञमङणनम्** प्रत्याहारसूत्र **ञमङणनाः स्वस्थाना.** आपिशल शिक्षासूत्र और **ञमन्ताड्डः** उणादिसूत्र की तुलना से यही प्रतीत होता है कि दशपादी पाठ का मूल आधारभूत पञ्चपादी पाठ आचार्य आपिशलि द्वारा प्रोक्त है, और दशपादी पाठ सम्भवतः आचार्य पाणिनि द्वारा परिष्कृत है।

यह पं. मीमांसक जी का अनुमान है। इसलिए यदि पञ्चपादी सूत्र आपिशलिप्रोक्त नहीं हों, तो निश्चय ही पाणिनि प्रोक्त होंगे।

४. पाणिनि

आचार्य पाणिनि ने अपने पञ्चाङ्ग व्याकरण की पूर्ति के लिये, तथा **उणादयो बहुलम्** (अष्टा. ३।३।२) सूत्र से संकेतित उणादि प्रत्ययों के निदर्शन के लिये किसी उणादिपाठ का प्रवचन किया था, यह निश्चित है।

पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा पञ्चपादी और दशपादी दोनों प्रकार के उणादिसूत्र समादृत हैं; इनमें से पाणिनिप्रोक्त कौन सा है, इसकी विवेचना करते हैं :–

पञ्चपादी का प्रवक्ता

पञ्चपादी उणादिसूत्रों का प्रवक्ता कौन है? इस विषय में प्राचीन ग्रन्थों में दो मत उपलब्ध होते हैं; कतिपय अर्वाचीन वैयाकरण पूर्वनिर्दिष्ट

महाभाष्य के **'व्याकरणे शकटस्य च तोकम्'** वचन के आधार पर पञ्चपादी उणादिपाठ को शाकटायनप्रोक्त मानते हैं। यथा –

१. 'उणादय इत्येव सूत्रमुणादीनां शास्त्रान्तरपठितानां साधुत्वज्ञापनार्थ– मस्त्विति भावः।' कैयट, प्रदीप ३।३।२।।

२. पञ्चपादी का वृत्तिकार श्वेतवनवासी लिखता है –
'येयं शाकटायनादिभिः पञ्चपादी रचिता।' पृष्ठ २, २१

३. नागेश भट्ट लिखता है –
'एवं च कृवापेति उणादिसूत्राणि शाकटायनस्येति सूचितम्।'
प्रदीपोद्योत ३।३।२।।

४. वासुदेव दीक्षित सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या में लिखता है –

'तानि चेमानि सूत्राणि शाकटायनमुनिप्रणीतानि, न तु पाणिनिना प्रणीतानि।' बालमनोरमा भाग ४, पृष्ठ १३८ (लाहौर सं.)।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि उपर्युक्त ग्रन्थकार पञ्चपादी उणादिसूत्रों को शाकटायन प्रोक्त मानते हैं।

कतिपय प्राचीन ग्रन्थकार ऐसे भी हैं, जो पञ्चपादी उणादिसूत्रों को पाणिनीय मानते हैं। यथा –

१. प्रक्रियासर्वस्वकार नारायण भट्ट उणादि–प्रकरण में लिखता है–

अकारं मुकुरस्यादौ उकारं दर्दुरस्य च।
बभाण पाणिनिस्तौ तु व्यत्ययेनाह भोजराट्।।

अर्थात् – पाणिनि 'मुकुर' शब्द के आदि में अकार (= मकुर) और दर्दुर शब्द के आदि में उकार (= दुर्दुर) कहता है, और भोजराट् इससे उल्टा (= मुकुर–दर्दुर) मानता है।

नारायण भट्ट ने यह पङ्क्ति पञ्चपादी के मकुरदर्दुरौ (१।४०, पृष्ठ १०) सूत्र की व्याख्या में लिखी है। इससे स्पष्ट है कि नारायण भट्ट इस पाठ को पाणिनीय मानता है।

२. शिशुपालवध का रचयिता माघ कवि लिखता है–

'निपातितसुहृत्स्वामिपितृव्यभ्रातृमातुलम्।
पाणिनीयमिवालोचि धीरैस्तत्समराजिरम्।।' १६।७५।।

इस श्लोक में सुहृत्, स्वामी, पितृव्य, भ्रातृ, मातुल शब्द पाणिनि द्वारा निपातित हैं, ऐसा संकेत किया है। इससे स्पष्ट है कि माघ कवि किसी उणादिपाठ को पाणिनिप्रोक्त मानता है।

३. पञ्चपादी उणादिसूत्रों के व्याख्याता स्वामी दयानन्द सरस्वती इन्हें पाणिनीय मानते हैं। यथा –

(क) वह अष्टाध्यायी, धातुगण आदिगण (उणादिगण) शिक्षा और प्रातिपदिक गण यह पांच पुस्तक पाणिनि मुनिकृत .....।[1]

(ख) पाणिनि मुनि रचित उणादि गणसूत्र प्रमाण हनिकुषिनीरमि ...।[2]

(ग) पाणिनि बड़े विद्वान् वैयाकरण हो गये। ...... इन महामुनि ने पांच पुस्तकें बनाई – १. शिक्षा, २. उणादिगण, ३. धातुपाठ, ४. प्रातिपदिकगण, ५. अष्टाध्यायी।[3]

शाकटायन–प्रोक्त मानने में भ्रान्ति का कारण कैयट, श्वेतवनवासी,नागेश भट्ट और वासुदेव प्रभृति वैयाकरणों का पञ्चपादी उणादिसूत्रों को शाकटायन–प्रोक्त मानना भ्रान्तिमूलक है। इस भ्रान्ति का कारण महाभाष्य ३।३।१ का **व्याकरणे शकटस्य च तोकम्। वैयाकरणानां च शाकटायन आह धातुज नामेति** वचन है।

इस वचन में पतञ्जलि ने केवल इतना ही संकेत किया है कि वैयाकरणों में शाकटायन सम्पूर्ण नाम शब्दों को धातुज मानता है। इस संकेत से यह कैसे सूचित हो गया कि कृवापा आदि पञ्चपादी उणादिसूत्र शाकटायन प्रोक्त हैं, यह समझ में नहीं आता। भाष्यकार द्वारा संकेतित शाकटायन मत 'सम्पूर्ण नाम धातुज हैं' यास्कीय निरुक्त (१।१२) में भी स्मृत है।

दशपादी-पाठ का प्रवक्ता

दशपादी पाठ का प्रवक्ता कौन है? यह अभी तक निश्चित रूप से अज्ञात है। प्रक्रियाकौमुदी के व्याख्याता विट्ठल ने उणादि प्रकरण में दशपादी उणादिपाठ की व्याख्या की है। पाणिनीय व्याकरण का आश्रयण करने वाले कतिपय वैयाकरणों ने इस पर वृत्तियां भी लिखी हैं। इसके अतिरिक्त इसके पाणिनीयत्व में निम्न हेतु भी उपस्थित किये जा सकते हैं –

१. महाभाष्यकार पतञ्जलि ने हयवरट् प्रत्याहार सूत्र के भाष्य में एक प्राचीन सूत्र उद्धृत किया है–

'जीवेरदानुक्'–जीरदानुः।[४]

महाभाष्यकार द्वारा उद्धृत 'जीवेरदानुक्' सूत्र दशपादी पाठ (१।१६३) में ही उपलब्ध होता है, पञ्चपादी पाठ में नहीं है। इस सूत्र को काशिकाकार ने भी ६।१।६६ की वृत्ति में उद्धृत किया है।

२. पाणिनीय व्याकरण के अनेक व्याख्याताओं ने दशपादी सूत्रों को अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। यथा–

(क) वामन ने काशिकावृत्ति ६।२।४३ में यूप शब्द के लिए कुसुयुभ्यश्च सूत्र उद्धृत किया है। यह पाठ दशपादी (७।५) में ही उपलब्ध होता है। पञ्चपादी में पाठ भेद है।

(ख) हरदत्त मिश्र ने काशिका ७।४।४८ में वार्तिक के उषस् शब्द की सिद्धि के लिये वसेः कित् सूत्र उद्धृत किया है। यह पाठ दशपादी ६।६४ में ही मिलता है। पञ्चपादी में उषः कित् पाठ है।

३. पाणिनीय धातुपाठ के व्याख्याता क्षीरस्वामी ने अपनी क्षीरतरङ्गिणी में जो उणादिसूत्र उद्धृत किये हैं, उनकी पञ्चपादी और दशपादी के पाठों की तुलना करने से विदित होता है कि क्षीरस्वामी उणादिसूत्रों के दशपादी पाठ को स्वीकार करता है।

४. पाणिनीय व्याकरण का आश्रयण करने वाले अनेक ग्रन्थकारों ने कतिपय ऐसे सूत्र उद्धृत किये हैं, जो दशपादी में ही मिलते हैं। यथा –

(क) देवराज यज्वा ने 'शाखा' पद के निर्वचन के प्रसङ्ग में निम्न सूत्र उद्धृत किया है–

'वृक्षावयवाच्च।' निघण्टु टीका २।५।२६, पृष्ठ १६८।

यह पाठ दशपादी के वृक्षावयव आ च (३।५६) का ही लेखक प्रमादजन्य पाठ है। अन्यत्र यह सूत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता।

(ख) 'नहुष' पद के व्याख्यान में देवराज लिखता है –

अकारान्तमिदं नाम केषुचित् कोशेषु, तदा **'ऋहनिभ्यामुषन्'** इत्युषन् प्रत्ययः। निघण्टुटीका २।३।६, पृष्ठ १८०।

उणादिसूत्र का यह पाठ दशपादी ६।१३ में उपलब्ध होता है। पञ्चपादी ४।७८ में **पृकलिभ्यामुषन्** पाठ है।

(ग) अमरकोष के व्याख्याकार क्षीरस्वामी, सर्वानन्द, भानुजिदीक्षित प्रभृति ने 'अनड्वान्' पद के निर्वचन (अमर २।६।६०) में जो सूत्र उद्धृत किया है, वह इस प्रकार है–

'अनसि वहेः क्विबनसो डश्च'

यह सूत्र केवल दशपादी पाठ में ही मिलता है। वहाँ इसका पाठ **वहेः क्बिनसो डश्च** (६।१०७) (भाग २, पृ. ५०३) में भी वह सूत्र उद्धृत है। वहाँ इसका पाठ **अनसि वहेः क्विब् डश्चानसः** है। अमरकोष की टीकाओं, न्यास तथा पदमञ्जरी में उद्धृत पाठ सम्भव है अर्थानुवाद रूप हों, यह स्पष्ट है। क्योंकि यह सूत्र पञ्चपादी में किसी रूप में भी उपलब्ध नहीं होता।

५. दशपादी पाठों में इकारान्त से औकारान्त पर्यन्त शब्दों के साधक सूत्रों का पाठ करके अकार विशिष्ट कान्त से लेकर हान्त

शब्दों के साधक सूत्रों का पाठ मिलता है। यह अन्त्य–वर्णानुसारी संकलन प्रकार पाणिनीय लिङ्गानुशासन में भी कोपधः (सूत्र ६०) टोपधः (सूत्र ६३) णोपधः (सूत्र ६६) योपधः (सूत्र ६६) आदि में उपलब्ध होता है।

६. पाणिनि अष्टाध्यायी में जिन प्रत्ययों का धातुमात्र से विधान मानता है, वहाँ 'सर्वधातु' शब्द का निर्देश न करके केवल प्रत्ययमात्र का निर्देश करता है। यथा –

ण्वुल्तृचौ ।३।१।२३३।। तृन् ।।३।२।१३५।।
लुङ् ।३।२।११०।। वर्तमाने लट् ।३।२।१२३।।

इसी प्रकार दशपादी उणादि में भी जो प्रत्यय धातुमात्र से इष्ट हैं, उनमें केवल प्रत्ययमात्र का निर्देश मिलता हो। यथा –

इन् ।१।४६।। ष्ट्रन् ।८।७६।।
असुन् ।६।४६।। मनिन् ।६।७३।।

पञ्चपादी के उज्ज्वलदत्त, भट्टोजि दीक्षित प्रभृति वैयाकरणों द्वारा समादृत पाठ में इन प्रत्ययों के प्रसङ्ग में सर्वत्र **'सर्वधातुभ्यः'** शब्द का निर्देश उपलब्ध होता है। यथा –

सर्वधातुभ्य इन् ।४।११७।।[५]सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् ।।४।१५८।।[१]

सर्वधातुभ्योऽसुन् ।४।१८८।। सर्वधातुभ्यो मनिन् ।४।२४४।।१

भट्टोजि दीक्षित ने उपर्युक्त पञ्चपादी सूत्रों की व्याख्या करते हुए सर्वधातुभ्यः पद को प्रक्षिप्त तथा व्यर्थ कहा है।[६]

उपर्युक्त प्रमाणों से प्रतीत होता है कि उपरि निर्दिष्ट ग्रन्थकार दशपादी पाठ को पाणिनीय मानते हैं।

दशपादी पाठ को पाणिनीय न मानने में एक युक्ति दी जा सकती है, वह यह है कि पाणिनि ने उणादयो बहुलम् (३।३।१) सूत्र

में उण् प्रत्यय के साथ आदि पद का संयोग किया है। दशपादी में अनि प्रत्यय प्रारम्भ में है, उण् प्रत्यय का निर्देश प्रथम पाद के अस्सीवें सूत्र में मिलता है। पञ्चपादी में उण् प्रत्यय प्रथम सूत्र में ही पठित है।

इस कथन का यह समाधान हो सकता है कि पाणिनि ने अपने कई सूत्रों में आदि पद को प्रकारवाची माना है। भगवान् पतञ्जलि ने भी

'भूवादयो धातवः' (१।३।१) सूत्र में पक्षान्तर में वा पद के साथ संयोजित आदि को प्रकारवाची कहा है। ऐसी अवस्था में पूर्व आचार्यों के निर्देशानुसार 'उणादयो बहुलम्' सूत्र पढ़ते हुए आदि को प्रकारवाची माना जा सकता है। अथवा यह प्राचीन आचार्यों का सूत्र हो और पाणिनि ने स्वीकार कर लिया हो।

पञ्चपादी उणादिसूत्र पाणिनीय हैं अथवा दशपादी उणादिसूत्र, इस विषय में पं. मीमांसक जी का विचार है कि पञ्चपादी उणादिसूत्र आपिशलि प्रोक्त हैं और दशपादी उणादिसूत्र पाणिनि–प्रोक्त।

५. कातन्त्रकार (वि. सं. २००० से पूर्व)

उणादिसूत्र प्रवक्ता–कात्यायन (विक्रम समकाल) कातन्त्र व्याकरण के मूल प्रवक्ता ने कृदन्त शब्दों का अन्वाख्यान नहीं किया था। अतः कृदन्त भाग का प्रवचन कात्यायन गोत्रज वररुचि ने किया। कातन्त्र व्याकरण से सम्बद्ध एक उणादिपाठ उपलब्ध होता है। उणादिसूत्र कृदन्त भाग के परिशिष्ट रूप हैं। अतः कातन्त्र का सम्बद्ध उणादिपाठ का प्रवचन भी कात्यायन वररुचि ने ही किया था, यह स्पष्ट है। यह कात्यायन वररुचि महाराज विक्रम के नवरत्नों में अन्यतम है।

उणादिसूत्र–पाठ पर विचार–कातन्त्र व्याकरण से संबद्ध उणादिपाठ के विषय में डॉ. बेल्वल्कर महोदय ने लिखा है कि 'कृत्सूत्रों' में उणादिपाठ पीछे से प्रक्षिप्त हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि दुर्गसिंह की वृत्ति में उणादिसूत्र पठित नहीं है।[७] बेल्वल्कर के इस कथन का डॉ. जानकी प्रसाद द्विवेदी ने अपने 'कातन्त्रव्याकरणविमर्श' नामक शोध–प्रबन्ध में समुचित उत्तर दिया है।

काश्मीर बंग मद्रास पाठ – डॉ. द्विवेदी के लेखानुसार काश्मीर पाठ में उणादयो भूतेऽपि दृश्यन्ते सूत्र कृत्प्रकरण में पञ्चम पाद के आरम्भ में पठित है और उसी के आधार पर इस पाद की उणादि–पाद संज्ञा है। बंगपाठ में यह सूत्र चतुर्थपाद के अन्त (४।४।६७) में उपलब्ध होता है।[६]

६. चन्द्राचार्य (वि. सं. १००० से पूर्व)

आचार्य चन्द्र ने स्वोपज्ञ–व्याकरण से संबद्ध उणादिपाठ का भी प्रवचन किया था। इस उणादिपाठ को लिबिश ने स्वसम्पादित चान्द्र व्याकरण में उदाहरण–निर्देश पूर्वक छपवाया है।

संकलन प्रकार–चन्द्रगोभी ने अपने उणादिपाठ को तीन पादों में विभक्त किया है। इस पाठ का संकलन दशपादी के समान अन्त्यवर्णक्रम से किया है। तृतीय पाद के अन्त में कुछ प्रकीर्ण शब्दों का संग्रह मिलता है।

ब-व का अभेद – चन्द्रगोभी ने अन्तस्थ वकारान्त गर्व–शर्व अश्व लट्वा प्रभृति शब्दों का निर्देश भी पवर्गीय बान्त प्रकरण में किया है। इससे विदित होता है कि चन्द्रगोभी बंगदेशवासी है। अतएव वह पवर्गीय ब तथा अन्तस्थ व में भेदबुद्धि न रख सका।

७. क्षपणक (वि. प्रथम शती)

आचार्य क्षपणक प्रोक्त शब्दानुशासन तथा तत्संबद्ध वृत्ति तथा महान्यास का ज्ञान पं. मीमांसक जी के संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास ग्रन्थ के प्रथम भाग से प्राप्त हो सकता है।

क्षपणक व्याकरण से सम्बद्ध कोई उणादिपाठ था और उस पर कोई वृत्ति भी थी इसका परिज्ञान उज्ज्वलदत्तीय उणादिवृत्ति से होता है। उज्ज्वलदत्त उणादि १।१५८ सूत्र की वृत्ति के अन्त में लिखता है–
क्षपणकवृत्तावत्रेतिशब्द आद्यर्थे व्याख्यातः। (पृष्ठ ६०)

यह उणादिपाठ और उसकी वृत्ति निश्चय ही आचार्य क्षपणक की है। यह उणादिपाठ और वृत्तिग्रन्थ सम्प्रति अप्राप्य हैं।[८]

८. देवनन्दी

आचार्य देवनन्दी ने स्वोपज्ञ व्याकरण से सम्बद्ध उणादिपाठ का भी प्रवचन किया था। इसकी स्वतन्त्र पुस्तक इस समय अप्राप्य है। अभयनन्दी की महावृत्ति में इसके अनेक सूत्र उद्धृत हैं।

आचार्य देवनन्दी के काल के विषय में पं. मीमांसक जी के 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' भाग–१ में अधिक देखा जा सकता है।

देवनन्दी जैनेन्द्र शब्दानुशासन के रचयिता हुए जैनेन्द्र उणादि–पाठ का आधार–जैनेन्द्र व्याकरण से पूर्व पञ्चपादी और दशपादी उणादिपाठ विद्यमान थे। पञ्चपादी के प्राच्य औदीच्य तथा दाक्षिणात्य तीनों पाठ भी जैनेन्द्र से पूर्ववर्ती हैं। महावृत्ति में उद्धृत कतिपय सूत्रों की इन पूर्ववर्ती उणादि के सूत्रों से तुलना करने पर विदित होता है कि जैनेन्द्र उणादिपाठ पञ्चपादी के प्राच्यपाठ पर आश्रित है। इस अनुमान में निम्न हेतु है :–

अभयनन्दी ने १।१।७५ सूत्र की वृत्ति में एक उणादि–सूत्र उद्धृत किया है– णस् सर्वधातुभ्यः।

पञ्चपादी प्राच्यपाठ – सर्वधातुभ्योऽसुन् ।४।१८८।।

पञ्चपादी औदीच्यपाठ – असुन्। क्षीरतरङ्गिनी पृष्ठ ६३।
पञ्चपादी दाक्षिणात्यपाठ – असुन्। श्वेत. ४।१६४।
दशपादी पाठ – असुन् ।६।४६।

अभयनन्दी द्वारा उद्धृत पाठ पञ्चपादी के प्राच्य पाठ से प्रायः पूरी समानता रखता है। अन्य पाठों में सर्वधातुभ्यः अंश नहीं है।

९. वामन

वामन विरचित शब्दानुशासन के विषय में पं. मीमांसक जी

द्वारा विरचित संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास पुस्तक के प्रथम भाग का सत्रहवां अध्याय देखा जा सकता है। वामन ने स्वशास्त्र संबद्ध उणादि–पाठ का भी प्रवचन किया होगा, और उस पर स्वशब्दानुशासनवत् वृत्ति भी लिखी होगी, इसमें सन्देह की स्थिति नहीं। वामन का उणादिपाठ इस समय अज्ञात है।

१०. पाल्यकीर्ति

आचार्य पाल्यकीर्ति के व्याकरण और उसकी वृत्तियों का वर्णन पं. मीमांसक जी की संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास नामक पुस्तक के प्रथम भाग में सत्रहवें अध्याय में देखा जा सकता है। पाल्यकीर्ति ने स्वोपज्ञ तन्त्र सम्बद्ध उणादिसूत्रों का भी प्रवचन किया था, यह उसके निम्न सूत्रों से स्पष्ट है –

संप्रदानाच्चोणादयः ।४ ।३ ।५७ ।।

उणादयः ।४ ।३ ।२८० ।।

शाकटायनीय लिङ्गानुशासन की टीका में लिखा है–

उणादिषु थप्रत्ययान्तो निपात्यते हर्षीय लिङ्गानुशासन परिशिष्ट, पृ. ११५।

चिन्तामणि नामक लघुवृत्ति के रचयिता यक्षवर्मा ने भी स्ववृत्ति के प्रारम्भ में लिखा है – **उणादिकान् उणादौ...** (श्लोक ११)। इन प्रमाणों से पाल्यकीर्ति प्रोक्त उणादिपाठ की सत्ता स्पष्ट है। पाल्यकीर्ति प्रोक्त उणादिपाठ इस समय अप्राप्य है।

११. भोजदेव

भोजदेव प्रोक्त सरस्वती कण्ठाभरण नामक शब्दानुशासन का वर्णन पं. मीमांसक जी की उपर्युक्त पुस्तक में प्राप्त किया जा सकता है।

भोजीय-उणादिपाठ–भोजदेव ने अपने व्याकरण से सम्बद्ध उणादि सूत्रों का प्रवचन किया है। यह उणादिपाठ उसके सरस्वतीकण्ठाभरण व्याकरण के द्वितीय अध्याय के १–२–३ पादों में पठित है।

भोज का साहस – प्राचीन आचार्यों ने धातुपाठ गणपाठ उणादिसूत्र आदि का शब्दानुशासन के खिलपाठों के रूप में प्रवचन किया था। इस पृथक् प्रवचन के कारण व्याकरणाध्येता प्रायः शब्दानुशासनमात्र का अध्ययन करके खिलपाठों की उपेक्षा करके खिलपाठों की उपेक्षा करते थे। महाराज भोजदेव ने अत्यधिक उपेक्ष्य गणपाठ और उणादिपाठ को अपने शब्दानुशासन के अन्तर्गत पढ़ने का सत्साहस किया। परन्तु भोजीय शब्दानुशासन के पठनपाठन में प्रचलित न होने से उसका विशेष लाभ न हुआ।

१२. बुद्धिसागर सूरि (वि. सं. २०८०)

आचार्य बुद्धिसागर सूरि प्रोक्त बुद्धिसागर व्याकरण का उल्लेख पं. मीमांसक जी द्वारा विरचित पुस्तक संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास प्रथम भाग के सत्रहवें अध्याय में देखा जा सकता है। इस व्याकरण का नाम पञ्चग्रन्थी भी है। इस नाम से ही स्पष्ट है कि बुद्धिसागर सूरि ने शब्दानुशासन के साथ–साथ चार खिलपाठों का भी प्रवचन किया था। इन खिलपाठों में एक उणादिपाठ भी अवश्य रहा होगा।

बुद्धिसागर सूरि ने अपने व्याकरण के सभी अंगों पर स्वयं व्याख्या ग्रन्थ भी लिखे थे।

१३. हेमचन्द्र सूरि (वि. सं. ११४५-१२२६)

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण से सम्बद्ध उणादिपाठ का प्रवचन किया था और उस पर स्वयं विवृत्ति लिखी थी।

यह उणादिपाठ सबसे अधिक विस्तृत है। इसमें १००६ सूत्र हैं। इसकी व्याख्या भी पर्याप्त विस्तृत है। इसका परिमाण २८०० अट्ठाईस सौ श्लोक हैं।

१४. मलयगिरि

आचार्य मलयगिरि के व्याकरण का परिचय पं. मीमांसक जी द्वारा विरचित पुस्तक संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग–१

के सत्रहवें अध्याय से प्राप्त किया जा सकता है। उसने उणादिसूत्रों का भी प्रवचन किया था, पर सम्प्रति वे उपलब्ध नहीं है।

१५. क्रमदीश्वर

क्रमदीश्वरप्रोक्त संक्षिप्तसार अपरनाम जौमर व्याकरण के विषय में पं. मीमांसक जी की उपर्युक्त पुस्तक के सत्रहवें अध्याय से जाना जा सकता है। क्रमदीश्वर ने स्वतन्त्र स्वशास्त्र सम्बद्ध उणादिपाठ का भी प्रवचन किया था।

१६. मुग्धबोध सम्बद्ध उणादि-पाठ

बोपदेव कृत मुग्धबोध व्याकरण से सम्बद्ध एक उणादिपाठ भी है। इस उणादिपाठ और उसकी वृत्ति के विषय में डॉ. शन्नोदेवी (देहली) ने 'बोपदेव का संस्कृत व्याकरण को योगदान' नामक अपने शोध प्रबन्ध में पृष्ठ ४३७–४३६ तक लिखा है। इसके विषय को पं. मीमांसक जी की उपर्युक्त पुस्तक प्रथम भाग में बोपदेवीय मुग्धबोध व्याकरण के प्रसंग में देखा जा सकता है।

१७. सारस्वत-व्याकरणकार (वि. सं. १३०० के समीप)

सारस्वत व्याकरण से सम्बद्ध उणादिसूत्र उपलब्ध होते हैं। इन का प्रवक्ता अनुभूतिस्वरूपाचार्य है। इसमें केवल ३३ सूत्र हैं।

१८. रामाश्रम

रामाश्रम ने सारस्वत का 'सिद्धान्त चन्द्रिका' नाम से जो रूपान्तर किया, उसके उणादिसूत्रों की संख्या ३७० है तथा यह पांच पादों में विभक्त है।

१६. पद्मनाभदत्त (वि. सं. १४००)

पद्मनाभदत्त के सुपद्म व्याकरण का उल्लेख पं. मीमांसक जी द्वारा ग्रन्थ संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग–१ के सत्रहवें अध्याय में प्राप्त होता है। पद्मनाभदत्त ने स्वीय–तन्त्र सम्बद्ध उणादि–पाठ का भी प्रवचन किया था।

संदर्भ ग्रन्थ

१. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, भाग–१, पृ. ३५, पं २ (तृ. संस्करण)।

२. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, भाग–१, पृ. ५४, पं ८ (तृ. संस्करण)।

३. ऋ. द. के शास्त्रार्थ और प्रवचन, पूना का १० वां प्रवचन, पृ. ३८७, पं. (१६–२०) रा. कपूर ट्रस्ट।

४. कहीं कहीं जीवेरदानुः पाठान्तर भी है। परन्तु माहाभाष्य ६।१।६६ के पाठ से विदित होता है कि 'जीवेरदानुक्' पाठ ही प्रामाणिक है। वहाँ 'जीव' धातु को 'ऊठ्' की प्राप्ति दर्शाई है। यह प्राप्ति प्रत्यय के कित् होने पर ही सम्भव है।

५. यह सूत्र संख्या उज्जवलदत्तीय वृत्ति के कलकत्ता संस्करण के अनुसार है।

६. प्रौढ़ मनोरमा, पृ. ७६६, ८००।

७. सिम्टम्स् ऑफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ८५ उद्धृत का तन्त्र व्याकरण विमर्श, पृ. ३८।

८. कातन्त्र व्याकरण विमर्श, पृ. ३८।

अध्याय - ३
उणादि के व्याख्याता

पञ्चपादी उणादिपाठ के व्याख्याताओं के वर्णन से पूर्व इस पाठ से सम्बद्ध कुछ अन्य विशेष तथ्यों पर विचार किया जाता है :–

पञ्चपादी का मूल त्रिपादी – वर्तमान, पञ्चपादी, उणादिसूत्रों में दो शैलियां उपलब्ध होती हैं। एक शैली तो यह है कि पूर्वपाद के अन्त का और उत्तरपाद के आदि का प्रत्यय भिन्न–२ है। यथा– प्रथमपाद के अन्त में कनिन् प्रत्यय, और द्वितीय पाद के आदि में एणु प्रत्यय है। इसी प्रकार चतुर्थ पाद के अन्त में कनसि प्रत्यय और पञ्चम पाद के आदि में डुतच् प्रत्यय है। दूसरी शैली यह है कि पूर्वपाद के अन्त में वर्तमान प्रत्यय का ही उत्तर पाद के प्रथम सूत्र में सम्बन्ध रहता है। यथा – द्वितीय पाद के अन्त में श्रूयमाण ष्वरच् प्रत्यय का तृतीय पाद के प्रथम सूत्र में, तथा तृतीय पाद के अन्त में श्रूयमाण ई प्रत्यय का ही चतुर्थ पाद के प्रथम सूत्र में सम्बन्ध है।

प्राचीन ग्रन्थों में द्वितीय शैली ही देखी जाती है। निरुक्त में एक पाद के अन्तर्गत खण्ड विभागों में देखा जाता है कि पूर्व खण्डस्थ विषय को पूर्ण करके उत्तर खण्ड में जिस बात का प्रतिपादन करना होता है, उसका आरम्भ पूर्व खण्ड के अन्त में ही कर दिया जाता है। यथा– निरुक्त अ. १, खण्ड १ का अन्तिम पाठ है –

'इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः।'

द्वितीय खण्ड में इसी विषय में विवेचना की है। उसका आरम्भ होता है–

'तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यतेऽयुगपदुत्पन्नानाम्' आदि वाक्य से यही शैली शतपथ में भी है। वहाँ भी एक ब्राह्मण के अन्तर्गत कण्डिकाएं पूर्वकण्डिका के अन्तिम और उत्तर कण्डिका के आदि पाद से सम्बद्ध हैं।

इस प्राचीन शैली के अनुसार यदि पञ्चपादी उणादिगण के पाद–विभागों पर विचार किया जाए, तो प्रतीत होगा कि पञ्चपादी पाठ के मूलपाठ में तीन ही पाद थे। पहला पाठ वर्तमान द्वितीय पाद पर समाप्त होता था, और द्वितीय पाद वर्तमान तृतीय पाद पर। अर्थात् पूर्वपाठ के प्रथम पाद में प्रथम–द्वितीय पाद थे। पहला पाद वर्तमान द्वितीय पाद पर समाप्त होता था, और द्वितीय पद में वर्तमान तृतीय पाद और तृतीय पाद में वर्तमान चतुर्थ पञ्चम पाद थे।

पञ्चपादी के अवान्तर पाठ – पञ्चपादी उणादि की जितनी भी वृत्तियां सम्प्रति उपलब्ध हैं, उनके सूत्रपाठ में अनेक प्रकार की विषमताएं हैं। किसी भी वृत्ति का सूत्रपाठ किसी दूसरी वृत्ति के सूत्रपाठ के साथ पूर्णतया नहीं मिलता। सूत्रों में न्यूनाधिकता और सूत्रगत पाठभेदों का बाहुल्य देखने में आता है। उनकी सूक्ष्मता से विवेचना करने पर ज्ञात होता है कि पञ्चपादी के मूलभूत कई पाठ हैं। पं. मीमांसक जी के अनुसार पञ्चपादी के मूलभूत तीन पाठ हैं –

(क) प्राच्य पाठ – उज्ज्वलदत्त, भट्टोजि दीक्षित, स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रभृति ने जिस पाठ पर अपनी वृत्तियां रची हैं, वह मूलतः प्राच्य पाठ है। उणादि का यह पाठ बृहत् पाठ है। धातु मात्र से प्रत्यय विधायक सूत्र में सर्वधातुभ्यः अंश इसी पाठ में मिलता है।

(ख) औदीच्य पाठ – किसी औदीच्य देशवासी वैयाकरण की पञ्चपादी पाठ पर वृत्ति उपलब्ध न होने से उसके वास्तविक स्वरूप का निर्धारण करना कठिन है। कश्मीर देशवासी क्षीरस्वामी का निर्धारण करना कठिन है। कश्मीर देशवासी क्षीरस्वामी ने अमरकोश की टीका और क्षीरतरङ्गिणी में जिन उणादिसूत्रों को उद्धृत किया है, यदि वे दशपादी के न हों, तो उनके आधार पर पञ्चपादी के औदीच्य पाठ की कल्पना की जा सकती है। धातुपाठ और अष्टाध्यायी के औदीच्य और दाक्षिणात्य पाठों की तुलना से इतना अवश्य जाना जाता है कि इन पाठों में स्वल्प ही अन्तर रहता है।

(ग) दाक्षिणात्य पाठ – श्वेतवनवासी और नारायणभट्ट प्रभृति ने जिस पञ्चपादी पाठ पर अपनी वृत्तियां लिखी हैं, वह दाक्षिणात्य पाठ है, क्योंकि ये दोनों वैयाकरण दाक्षिणात्य थे। दाक्षिणात्य पाठ में औदीच्य पाठ में दर्शाया हुआ सर्वधातुभ्यः अंश उपलब्ध नहीं होता।

हां, 'इन्' प्रत्यय विधायक सूत्र (४।१२६ श्वे. ११८ ना.) में सर्वधातुभ्यः पद मिलता है। परन्तु इसमें भी प्राच्य पाठ से कुछ वैलक्षण्य है। प्राच्य पाठ में सर्वधातुभ्य इन् पाठ है, और दाक्षिणात्य पाठ में इन् सर्वधातुभ्यः। इस प्रकरण में एक बात और विवेचनीय है, वह है दोनों वृत्तियों में 'इन् सर्वधातुभ्यः' सूत्र के आगे समानरूप से पठित पचिपाठिकाशिवाशिनन्दिभ्यः इन् सूत्र में पुनः इन् प्रत्यय का निर्देश। इससे प्रतीत होता है कि दाक्षिणात्य पाठ में इस प्रकरण में कुछ पाठ भ्रंश अवश्य हुआ है।

अब यहां कालक्रमानुसार पञ्चपादी उणादिकाल के व्याख्याकारों का वर्णन किया जाता है।

पञ्चपादी के व्याख्याकार

१. भाष्यकार (अज्ञातकाल)

उज्जवलदत्त ने अपनी उणादिवृत्ति में किसी अज्ञातनामा वैयाकरण द्वारा पञ्चपादी पाठ पर लिखे गये भाष्य नामक व्याख्या ग्रन्थ का दो स्थानों पर निर्देश किया है। यथा–

१. **'इगुपधात् किरिति प्रमादपाठः। स्वरे विशेषादिति भाष्यम्।'** ४।११६ पृ. १७५

२. **''इह इह इति वक्तव्ये 'अचः' इति वचनं सन यक्षरादप्याचार-क्विबन्ताद् यथा स्यादिति भाष्यम्।''** ४।१३८ पृ. १८१।

इस ग्रन्थ के ग्रन्थकार के विषय में इससे अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकती है।

२. गोवर्धन

गोवर्धन नाम के वैयाकरण ने उणादिसूत्रों पर एक वृत्ति लिखी

थी। इस वृत्ति के उद्धरण सर्वानन्द कृत अमरटीकासर्वस्व, उज्ज्वलदत्त रचित उणादिवृत्ति, भट्टोजि दीक्षित लिखित प्रौढमनोरमा आदि अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं। तदनुसार इसके पिता का नाम नीलाम्बर अथवा संकर्षण था। इसके सहोदर का नाम बलभद्र और शिष्य का नाम उदयन था। यह बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन का सभ्य था –

'गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः।
कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणसेनस्य।।'

काल – आर्यासप्तशती तथा पूर्वनिर्दिष्ट श्लोक से यह स्पष्ट है कि गोवर्धन महाराज लक्ष्मणसेन का समकालिक है। लक्ष्मणसेन के काल के विषय में ऐतिहासिकों में मतभेद है। श्री पं. भगवद्दत्त जी ने वैदिक वाङ्मय के इतिहास के ७ वेदों के भाष्यकारों नामक भाग के पृष्ठ १०५ पर लक्ष्मणसेन का राज्यकाल वि. सं. १२२७–१२५७ माना है। कीथ के संस्कृत साहित्य के इतिहास (हिन्दी अनुवाद) के पृष्ठ २३० के टिप्पण में ई. सन् ११७५–१२०० अर्थात् वि. सं. १२३२–१२५७ लिखा है।

'संसार के संवत्' ग्रन्थ के लेखक जगनलाल गुप्त ने सेन संवत् के आरम्भ होने का जो विवरण प्रस्तुत किया है, तदनुसार –

कोलब्रुक के मत में ई. सन् ११०४, वि. सं. ११६१
राजेन्द्रलाल के मत में ई. सन् ११०८, वि. सं. ११६५
कनिंघम के मत में ई. सन् ११०८, वि. सं. ११६५
बुकानन के मत में ई. सन् ११०६, वि. सं. ११६६
कीलहॉर्न के मत में ई. सन् ११०६, वि. सं. ११६६

विभिन्न लेखकों ने विभिन्न काल सेन–संवत् प्रारम्भ होने के माने हैं। इसलिये इस आधार पर गोवर्धन का काल निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। स्थूल रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि गोवर्धन का काल वि. सं. ११६१ से लेकर १२५७ के मध्य है।

ग्रन्थकारों का साक्ष्य – सर्वानन्द ने अमरकोष पर टीकासर्वस्व का प्रणयन वि. सं. १२१६ (शक. १०८२) में किया था। सर्वानन्द ने इसमें पुरुषोत्तमदेव को नामनिर्देशपूर्वक उद्धृत किया है।[1] पुरुषोत्तमदेव ने भाषावृत्ति में गोवर्धन को तात्कालिक वैयाकरणों में श्रेष्ठ कहा है। इससे स्पष्ट है कि गोवर्धन पुरुषोत्तमदेव का समकालिक अथवा कुछ पूर्ववर्ती है। इस उद्धरण परम्परा से इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गोवर्धन ने उणादिवृत्ति वि. सं. १२०० के लगभग अथवा उससे कुछ पूर्व लिखी होगी।

गोवर्धन का वैदुष्य – गोवर्धन का लक्ष्मणसेन के सभासदं पुरुषोत्तमदेव ने भाषावृत्ति १।४।८७ में **'उपगोवर्धनं वैयाकरणाः'** द्वारा गोवर्धन को तात्कालिक वैयाकरणों में श्रेष्ठ बताया है। सुभूतिचन्द्र (?) ने अमरटीका में गोवर्धन को पारायण–परायण कहा है।

यतः गोवर्धन बंग प्रान्तीय है, अतः उसकी टीका पञ्चपादी के प्राच्य पाठ पर थी, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। यह वृत्ति सम्प्रति अनुपलब्ध है।

३. दामोदर

वैयाकरण दामोदर ने उणादिपाठ पर कोई वृत्तिग्रन्थ लिखा था, यह सुभूतिचन्द्र (?) की अमरटीका के निम्न उद्धरण से व्यक्त होता है–

'यत्तु दिद्याशीलः असिविधौ दिविभुजिम्यां विश्वे' (तु. ४/२३७) **इति पठित्वा 'विश्वे' इति सप्तम्या अलुकि दीव्यतेरसि विश्वेदेवाः इति सान्तमुदाजहारस तस्य विपर्यस्तदृशोर्दोषेण हस्तामर्ण, तत्रैव पारायण-परायणगोवर्धन-दामोदर-पुरुषोत्तमादिभिः विदिभुजिभ्यां विश्वे इति वृत्तिं पठित्वा विश्वं वेत्ति विश्ववेदाः इति, 'अशुप्रुषीति'** (१।१५१) **क्वन्विधौ विश्वं जगत् विश्वेदेवा इत्युदाहृतत्वात्।** हस्तलेख पृ. १८।[2]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि दामोदर ने उणादिपाठ पर कोई वृत्तिग्रन्थ अवश्य रचा था।

दामोदर नाम के अनेक व्यक्ति संस्कृत वाङ्मय में प्रसिद्ध हैं। भाषावृत्ति के व्याख्याता सृष्टिधराचार्य ने ५।१।१०० की व्याख्या में लिखा है–**'तथा च इह मूर्धन्यान्त एव दामोदरसेनस्य शाब्दिकसिंहत्वात्'**[३]

इस उल्लेख से विदित होता है कि इस उणादिवृत्तिकार का पूरा नाम दामोदरसेन था।

काल – उक्त अमरटीका का काल वि. सं. १५३१ है। सृष्टिधर का काल भी विक्रम की १५ वीं शती है। दामोदर को उज्ज्वलदत्त ने भी उणादिवृत्ति में स्मरण किया हैं उणादिवृत्ति के आरम्भ में उपाध्यायसर्वस्व का भी निर्देश किया है। सर्वानन्द के निर्देशानुसार उपाध्याय–सर्वस्व दामोदर विरचित है। सुभूतिचन्द्र ने दामोदर का निर्देश गोवर्धन और

पुरुषोत्तमदेव के मध्य में किया है। इससे स्पष्ट है कि वह उनका समकालिक है।

एक दामोदरसेन आयुर्वेद का प्रसिद्ध विद्वान् है। उसका काल विक्रम की १२ वीं शती माना जाता है। पं. मीमांसक जी का मत है कि यही दामोदरसेन उपाध्यायसर्वस्व और उणादिवृत्ति का रचयिता है। अतः दामोदर का काल निश्चय ही वि. सं. १२०० के लगभग अथवा उससे कुछ पूर्व है।

दामोदर बंगवासी है। अतः उसकी उणादिवृत्ति प्राच्यपाठ पर थी, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

४. पुरुषोत्तमदेव (सं० १२०० वि.)

पुरुषोत्तमदेव ने उणादिपाठ पर एक वृत्ति लिखी थी। उज्जवलदत्त ने इस कृति के अनेक उदाहरण अपनी उणादिवृत्ति में देववृत्ति के नाम से उद्धृत किये हैं।[४] शरणदेव ने दुर्घटवृत्ति में स्पष्टरूप से पुरुषोत्तम के नाम से उसकी उणादिवृत्ति की ओर संकेत किया है।

वाचस्पति गैरोला ने अपने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ में पृ. ७८१ पर पुरुषोत्तमदेव का काल ७ वीं शती ई. लिखा है, वह सर्वथा चिन्त्य है।

५. सूतीवृत्तिकार (वि. सं. १२००)

उज्ज्वलदत्त ने उणादिसूत्र ३।१४० की वृत्ति में लिखा है–

'सूत्रमिदं सूतीवृत्तौ देववृत्तौ च न दृश्यते।' पृष्ठ १३८। अर्थात्– सूतीवृत्ति और देव (पुरुषोत्तमदेव) की वृत्ति में **दीङो नुट्** च सूत्र नहीं है।

यहाँ पञ्चपादी सूत्र के विषय में और वह भी पञ्चपादी वृत्तिकार पुरुषोत्तमदेव की देववृत्ति के साथ निर्दिष्ट होने से उज्ज्वलदत्त द्वारा निर्दिष्ट सूतीवृत्ति पञ्चपादी पाठ पर ही थी, यह निश्चित है।

६. उज्ज्वलदत्त (१३ वीं शती वि. का आरम्भ)

उज्ज्वलदत्त ने पञ्चपादी उणादिपाठ पर एक विस्तृत वृत्ति लिखी है। यह वृत्ति सम्प्रति उपलब्ध है। थोडेर आफ्रेक्ट ने इस वृत्ति का प्रथमतः सम्पादन किया था।

परिचय – उज्ज्वलदत्त ने अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया। अतः उसका वंश, देश, काल आदि सब अज्ञात है। हां, वृत्ति के प्रत्येक पाद के अन्त में जो पाठ उपलब्ध होता है, उससे विदित होता है कि उज्ज्वलदत्त का अपर नाम जाजलि था।[१]

भण्डारकर प्राच्य विद्या शोध–संस्थान पूना के व्याकरण–विषयक हस्तलेखों के सन् १९३८ में मुद्रित सूचीपत्र में संख्या २६७–२७३ तक ७ हस्तलेख हैं। इनमें संख्या २६७, २६८ में 'जेजलीय' पाठ मिलता है। संख्या २७३ में **'श्रीमहामहोपाध्याय नागदेव-उज्ज्वलदत्तविरचिताया. .....'** पाठ उपलब्ध होता है। इस हस्तलेख के विषय में सूचीपत्र में लिखा है कि इसमें पृष्ठमात्रा का प्रयोग है। इस के आवरण पत्र पर कीलहॉर्न की टिप्पणी है – यह 'उज्ज्वलदत्त का ग्रन्थ नहीं है, उससे संगृहीत है।' इस हस्तलेख के अन्त में निर्दिष्ट 'नागदेव' नाम का

समावेश कैसे हुआ यह विचारणीय है। हो सकता है उज्ज्वलदत्तीय वृत्ति का यह संक्षेपक हो।

देश – यद्यपि उज्ज्वलदत्त ने अपने निवास स्थान का उल्लेख नहीं किया तथापि उसी उणादिवृत्ति के एक पाठ से ज्ञात होता है कि वह बंगाल का निवासी था। वह इस प्रकार है–

उज्ज्वलदत्त ने वलेर्गुक् च (१।२०) सूत्र भी व्याख्या में वकारादि वल्गु शब्द को बकारादि समझ कर 'वल संवरणे' धातु के स्थान पर बकारादि बल प्राणने धातु का निर्देश करके बकारादि बल्गु शब्द की निष्पत्ति दर्शाई है। यह भूल बकार वकार के समान उच्चारण के कारण हुई है। बकार वकार का समान उच्चारण–दो बंगवासियों में चिरकाल से चला आ रहा है।

काल – उज्ज्वलदत्त का काल अत्यन्त सन्दिग्ध है। साम्प्रतिक ऐतिहासिक विद्वान् उसका काल प्रायः ईसा की १३ वीं १४ वीं शती मानते हैं।[६] पं. मीमांसक जी के विचार में उज्ज्वलदत्त का काल विक्रम की १३ वीं शती के पूर्वार्ध से उत्तरवर्ती किसी प्रकार नहीं है। यहाँ उज्ज्वलदत्त के काल–निर्णायक प्रमाण संगृहीत किये जाते हैं–

१. सायण ने माधवीया धातुवृत्ति में उज्ज्वलदत्त का नाम निर्देशपूर्वक उल्लेख कियाहै। सायण का काल वि. सं. १३७२–१४४४ निश्चित है।

२. उज्ज्वलदत्त ने उणादिवृत्ति १।१०१ में मेदिनी कोष के रचयिता मेदिनीकार का नामोल्लेख पूर्वक निर्देश किया है। मेदिनी कोष का काल विक्रम की १४ वीं शती माना जाता है। अतः उससे यह उत्तरवर्ती है।

मेदिनी-कोष का काल – वस्तुतः उज्जवलदत्त का काल मेदिनीकोष के काल पर प्रधान रूप से अवलम्बित है। अतः उसके काल पर कुछ विचार किया जाता है–

(क) सं १४०० वि. के समीपवर्ती पद्मानाभदत्त ने भूरिप्रयोग कोष में मेदिनीकोष का उल्लेख किया है।

(ख) मल्लिनाथ ने माघ–काव्य के २।६५ की टीका में 'इनः पत्यौ नृपार्कयोः इति मेदिनी' पाठ उद्धृत किया है। ऐतिहासिक मल्लिनाथ का काल विक्रम की चौदहवीं शती मानते हैं। यह चिन्त्य है। हैम बृहद्वृत्त्यवघूर्णि में पृ. १५४ पर मल्लिनाथ कृत तन्त्रोद्योत अपरनाम न्यासोद्योत को उद्धृत किया है। हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि का लेखन काल वि. सं. १२६४। अतः

मल्लिनाथ का काल सं. १२५० वि. के लगभग होगा, और मेदिनी कोष का काल उससे भी पूर्व मानना पड़ेगा।

(ग) कल्पद्रुमकोष की भूमिका में मंख की टीका में मेदिनी के उल्लेख का निर्देश है। मंख का काल विक्रम की १२ वीं शती का उत्तरार्ध है। 'संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' के लेखक पं. सीताराम जयराम जोशी ने लिखा है कि कल्पद्रुम कोष की भूमिका में निर्दिष्ट – **'कमिति प्रकृत्य मस्तके च सुखेऽपि चेति अव्ययप्रकरणे मेदिनिः।'** अतः प्रमाण संदिग्ध है। पं. मीमांसक जी के विचार में पं. सीताराम का कथन युक्त नहीं है। उक्त उद्धरण में अव्ययप्रकरणे स्पष्ट लिखा है। मेदिनी कोष में अव्यय प्रकरण है। उसमें 'कम्' का निर्देश मान्त में विद्यमान है। अतः मंख ने उक्त उद्धरण मेदिनी कोष से ही लिया है, यह स्पष्ट है।

इस प्रकार मेदिनीकार का काल विक्रम की १२ वीं शती के उत्तरार्ध से पूर्व निर्धारित होता है। इसलिए मेदिनी का निर्देश होने मात्र से उज्जवलदत्त का काल १४ वीं शती अथवा उससे पश्चात् नहीं माना जा सकता।

३. उज्जवलदत्त उणादिवृत्ति में दो स्थानों पर दुर्घटेरक्षितः (१।५७; ३।१६०) लिख कर दुर्घटवृत्ति का निर्देश करता है। शरणदेव ने दुर्घटवृत्ति सं. १२२६ वि. में लिखी थी। अतः उज्ज्वलदत्त का समय सं. १२२६ विक्रमी से उत्तरवर्ती होना चाहिए।

वस्तुतः यह हेतु भी अशुद्ध है। उज्ज्वलदत्त द्वारा उद्धृत दोनों दुर्घटपाठ शरणदेव रक्षित तथा सर्वरक्षित द्वारा संस्कृत दुर्घटवृत्ति में उपलब्ध नहीं होते। उज्ज्वलदत्त ने अपनी टीका में बहुत्र मैत्रेयरक्षित के पाठ रक्षित नाम से उद्धृत किये हैं। अतः दुर्घटे रक्षितः वाले पाठ भी मैत्रेयरक्षित के हैं, शरणदेव विरचित दुर्घटवृत्ति के संस्कर्त्ता सर्वरक्षित के नहीं हैं। इसलिए इन उद्धरणों के आधार पर उज्ज्वलदत्त ने अपनी टीका में बहुत्र मैत्रेयरक्षित के पाठ रक्षित नाम से उद्धृत किये हैं। अतः दुर्घटे रक्षितः वाले पाठ भी मैत्रेयरक्षित के हैं, शरणदेव विरचित दुर्घटवृत्ति के संस्कर्ता सर्वरक्षित के नहीं है। इसलिए इन उद्धरणों के आधार पर उज्ज्वलदत्त को सं. १२२६ वि. से उत्तरवर्ती नहीं माना जा सकता।

४. पुरुषकार पृ. २७ में कृष्ण लीलाशुक मुनि 'उणादिवृत्तौ' निर्देशपूर्वक उज्जवलदत्तीय वृत्ति २।२५ के पाठ की ओर संकेत करता है।[७] कृष्ण लीलाशुक मुनि का काल सं. १२२५–१३५० वि. के मध्य है।[८]

अतः उज्जवलदत्त का काल वि. सं. १२०० से उत्तरवर्ती नहीं हो सकता। इसमें एक हेतु यह भी है कि सर्वानन्द द्वारा सं. १२२६ में विरचित अमरटीकासर्वस्व में बिना नामनिर्देश के उज्ज्वलदत्तीय उणादिकृति स्मृत है। दोनों के पाठ इस प्रकार हैं–

टीकासर्वस्व–प्रज्ञाद्यणि चाण्डाल इत्युणादिवृत्तिः ।२।१०।१६।।
उज्ज्वल–उणादिवृत्ति–प्रज्ञादित्वादणि चाण्डाल इत्यपि।१।११६।।

वस्तुतः उज्ज्वलदत्त की उणादिवृत्ति में पुरुषोत्तमदेव से अर्वाक्कालिक कोई भी ग्रन्थ अथवा ग्रन्थकार उद्धृत नहीं है। इसलिए उज्ज्वलदत्त ने उणादिवृत्ति का प्रणयन पुरुषोत्तमदेव के ग्रन्थप्रणयन और टीका सर्वस्व लेखन के मध्य किया है। इसलिए उज्जवलदत्त की उणादिवृत्ति का समय सामान्यतया वि. सं. १२०० के आस–पास मानना युक्त है।

७. दिद्याशील (वि. सं. १२५० के लगभग)

कुछ पूर्व दामोदर विरचित उणादिवृत्ति के प्रसङ्ग में अमरटीका का जो पाठ उद्धृत किया है उसके –

'यत्तु दिद्याशीलः असिविधौ 'दिविभुजिभ्यां विश्वे' इति पठित्वा विश्वे इति सप्तभ्या अलुकि दीव्यतेरसि विश्वेदेवाः इति सान्तमुदाजहार...।'

पाठ से प्रतीत होता है कि किसी दिद्याशील नाम के वैयाकरण ने उणादिसूत्रों पर कोई वृत्तिग्रन्थ लिखा था।

काल – जिस अमरटीका में यह पाठ उद्धृत है, उसका काल वि. सं. १५३२ है, यह हम पूर्व में कह चुके हैं। इसलिए दिद्याशील वि. सं. १५०० से पूर्ववर्ती हैं परन्तु ऐसा सम्भव है कि दिद्याशील का काल वि. सं. १२५० के लगभग हो।

८. श्वेतवनवासी (वि. १३ वीं शती)

श्वेतवनवासी नाम के वैयाकरण ने पञ्चपादी उणादिपाठ पर एक उत्कृष्ट वृत्ति लिखी है। यह वृत्ति मद्रास विश्वविद्यालय संस्कृत ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो चुकी है।

परिचय – श्वेतवनवासी के पिता का नाम आर्य भट्ट था। यह धर्मशास्त्र में पारङ्गत था, और भार्ग्य गोत्र का था। श्वेतवनवासी इन्दुग्राम समीपवर्ती अग्रहार (= ब्राह्मण वसति)[९] का निवासी था। इसके पूर्वज उत्तरमेरु में रहते थे। इन सब बातों का संकेत श्वेतवनवासी ने स्वयं किया है। वह लिखता है–

'इतीन्दुग्रामसमीपवर्त्यग्रहारवास्तव्येन उत्तरमेर्वभिजनेन[१०] धर्मशास्त्र पारगार्यभट्टसूनुना भार्ग्येण श्वेतवनवासिना विरचितायामुणादिवृत्तौ प्रथमः पादः।' इन्दु ग्राम की स्थिति अज्ञात है। इस वृत्ति के सम्पादक टी. आर. चिन्तामणि ने उत्तर मेरु नामक ग्राम की स्थिति मद्रास प्रान्त के चंगलपट नामक जिले में बताई है।[११] इस वृत्ति के हस्तलेख मलाबार प्रान्त से उपलब्ध हुए हैं। सम्भव है इन्दुग्राम मलाबार प्रान्त में रहा हो।[१२]

काल – श्वेतवनवासी का काल अज्ञात है। इस वृत्ति के सम्पादक ने श्वेतवनवासी का काल विक्रम की ११ वीं शती से लेकर १७ वीं शती के मध्य सामान्य रूप से माना है।[१३] यहाँ इसके काल पर थोड़ा विचार प्रस्तुत किया जाता है–

१. सं. १६१७ से १७३२ वि. तक विद्यमान नारायण भट्ट ने प्रक्रिया सर्वस्व के उणादि प्रकरण में श्वेतवनवासी की उणादिवृत्ति को नामनिर्देश के बिना बहुधा उद्धृत किया है, इससे स्पष्ट है कि श्वेतवनवासी विक्रम की १७ वीं शती से पूर्ववर्ती है। यह श्वेतवनवासी की उत्तरसीमा है।

२. श्वेतवनवासी ने अपनी व्याख्या में जिन ग्रन्थकारों को उद्धृत किया है, उनमें कैयट और भट्ट हलायुध का नाम भी है। भट्ट हलायुध ने अभिधानरत्नमाला कोष लिखा था। इसी के उद्धरण श्वेतवनवासी ने पृष्ठ १२७ और २१४ पर दिये हैं। भट्ट हलायुध का काल ईसा की १० वीं शती माना जाता है। कीथ ने अभिधानरत्नमाला का काल सन् ९५० माना है।[१४] तदनुसार विक्रम सं. १००० के आस–पास हलायुध का काल है। श्वेतवनवासी ने कैयट का निर्देश पृष्ठ ६६, १६८ तथा २०४ पर किया है। कैयट का काल सामान्यतया वि. सं. ११०० से पूर्व है। यह श्वेतवनवासी की पूर्व सीमा है।

३. सायण ने धातुवृत्ति में एक पाठ उद्धृत किया है– **'कुटादित्वात् ङित्वादेव कित्त्वफले सिद्धे किद्वचनंतस्यानित्य त्वज्ञापनार्थं ते धुवतेरित्र-प्रत्यये धरित्रिमिति गुणो भवतीत्याहुः।'** पृष्ठ ३३४।।

यह पाठ श्वेतवनवासी के निम्न पाठ से मिलता है–

'कुटादित्वान्ङित्त्वेनैव गुणाभावे सिद्धे तस्यानित्यत्वज्ञापनार्थं पुनः कित्त्वविधानम्, तेन धवित्रमित्यत्र गुणो भवति।' पृ. १५२।

इन पाठों की तुलना से विदित होता है कि सायण श्वेतवनवासी के उणादिवृत्ति के पाठ को ही नाम का निर्देश न करते हुए स्वल्प

परिवर्तन से उद्धृत कर रहा है। इसलिए श्वेतवनवासी धातुवृत्ति के रचनाकाल (सं. १४१५–१४२०) से पूर्ववर्ती है।

४. सर्वानन्द ने अमरटीकासर्वस्व में लिखा है–

'केचित्तु आतिदेशिकङित्त्वस्यानित्यत्वाद् गुण एव नोवङ्इति मन्यन्ते।' भाग ३, पृ. २०।

सर्वानन्द की इस पंक्ति के भाव श्वेतवनवासी की उद्धृत पङिक्त से सर्वथा अभिन्न हैं। इसलिए यदि सर्वानन्द ने यह पङिक्त श्वेतवनवासी की उणादिवृत्ति के आधार पर लिखी हो, तो श्वेतवनवासी को वि. सं. १२१६ से पूर्ववर्ती मानना होगा।

५. श्वेतवनवासी जहाँ भी डुधाञ् धातु के अर्थ का निर्देश करता है, वहाँ पायः दानधारणयोः पाठ लिखता है। क्षीरस्वामी देवराजयज्वा स्कन्दस्वामी दशपादिवृत्तिकार आदि प्राचीन ग्रन्थकार डुधाञ् का दानध ाारणयोः अर्थ ही पढ़ते हैं।[१५] निरुक्तकार ने भी रत्नधातमम् पद का अर्थ रमणीयानां धनानां दातृतमम् ही किया है।[१६] (सायण ने धारणपोषणयोः अर्थ लिखा है) इस प्रकार प्राचीन अर्थ का निर्देश करने वाले व्यक्ति को भी १३०० शती से प्राचीन ही मानना युक्त है।

इन सब हेतुओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि श्वेतवनवासी का काल विक्रम की बारहवीं शताब्दी है। परन्तु १३ वीं शती से अर्वाचीन तो उसे किसी प्रकार नहीं मान सकते हैं, यह स्पष्ट है।

श्वेतवनवासी की वृत्ति उणादिसूत्र के दाक्षिणात्य पाठ पर है। **श्वेतवनवासी वृत्ति के दो पाठ** – इस वृत्ति के दो पाठ हैं। इनका निर्देश सम्पादक ने A. B. संकेतों से किया है। नारायण भट्ट (उणादिवृत्ति पृ. १२३) A पाठ को मूल मानकर उद्धृत करता है। यद्यपि A. B. पाठों में ४।१४६ तक दोनों पाठों में महदन्तर है इस अन्तर का कारण मृग्य है।

६. भट्टोजि दीक्षित (सं. १५७०-१६५० वि.)

भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी के अन्तर्गत उणादिसूत्रों की संक्षिप्त व्याख्या की है। यह व्याख्या प्राच्य पाठ पर है।

टीकाकार

यतः भट्टोजिदीक्षित पर उणादि व्याख्या सिद्धान्तकौमुदी का एकदेश है, इसलिए जिन विद्वानों ने सिद्धान्तकौमुदी पर टीकाग्रन्थ लिखे, उन्होंने प्रसङ्ग प्राप्त उणादि–व्याख्याा पर भी टीकाएं कीं। सिद्धान्त–कौमुदी के निम्न टीकाकार हैं जो स्वाभाविक रूप से उणादि–व्याख्या के भी टीकाकार हो जाते हैं –

१. भट्टोजिदीक्षित	११. तोप्पल दत्त (प्रकाश)
२. ज्ञानेन्द्र सरस्वती	१२. अज्ञातकर्तृक (लघुमनोरमा)
३. नीलकण्ठ वाजपेयी	१३. अज्ञातकर्तृक (शब्दसागर)
४. रामानन्द	१४. अज्ञातकर्तृक (शब्दरसार्णव)
५. नागेश भट्ट	१५. अज्ञातकर्तृक (सुधाञ्जन)
६. रामकृष्ण	१६. लक्ष्मीनृसिंह
७. रङ्गनाथ यज्वा	१७. शिवरामचन्द्र सरस्वती
८. वासुदेव वाजपेयी	१८. इन्द्रदत्तोपाध्याय
६. कृष्णमित्र	१६. सारस्वत व्यूढमिश्र
१०. रामचन्द्र	२०. बल्लभ

इनके अतिरिक्त जिन लेखकों ने दीक्षितकृत प्रौढ़मनोरमा, नागेश के लघुशब्देन्दुशेखर बृहत्शब्देन्दुशेखर आदि पर टीकाग्रन्थ लिखे उन्होंने भी प्रसंगतः उणादि भाग पर कुछ न कुछ लिखा ही है। विस्तारभय से उनका यहाँ निर्देश नहीं किया जा रहा है।

इन सभी टीकाओं का प्रधान आश्रय भट्टोजिदीक्षित विरचित प्रौढमनोरमा है। उणादिसूत्रों की व्याख्या तथा पाठभेद आदि के लिये प्रौढमनोरमाा देखने योग्य हैं

१०. नारायण भट्ट (सं. १६१७-१७३३ वि. के मध्य)

नारायण भट्ट ने पाणिनीय व्याकरण पर प्रक्रियासर्वस्व नाम का एक ग्रन्थ लिखा है। उसके कृदन्त प्रकरण में उणादि–सूत्रों पर भी

संक्षिप्त वृत्ति लिखी है। इस वृत्ति में नारायण भट्ट ने स्थान–स्थान पर भोजदेव द्वारा विवृत औणादिक शब्दों का भी संग्रह किया है। यही इसकी विशेषता है। यह वृत्ति उणादि के दाक्षिणात्य पाठ पर है।

परिचय – नारायण भट्ट विरचित 'अपाणिनीय प्रमाणता' के सम्पादक ई. बी. रामशर्मा ने लिखा है कि नारायण भट्ट केरल देशान्तर्गत 'नावा' क्षेत्र के समीप 'निला' नदी तीरवर्त्ती 'भेल्युत्तूर' था। नारायण ने मीमांसक–मूर्धन्य माधवाचार्य से वेद, पिता से पूर्वमीमांसा, दामोदर से तर्कशास्त्र और अच्युत से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था।

नारायण भट्ट का काल – पण्डित ई. बी. रामशर्मा ने 'अपाणिनीय–प्रमाणता' का रचनाकाल सन् १६१८–१६७६ अर्थात् वि. सं. १६१७–१७३३ तक माना है।[१७] प्रक्रियासर्वस्व के टीकाकार केरल वर्मदेव ने लिखा है– 'भट्टोजिदीक्षित ने नारायण से मिलने के लिये केरल की ओर प्रस्थान किया, परन्तु मार्ग में नारायण की मृत्यु का समाचार सुनकर वापिस लौट गया।[१८]' यदि यह लेख प्रामाणिक माना जाय, तो नारायण भट्ट का काल विक्रम की १६ वीं शताब्दी मानना होगा। इसकी पुष्टि इस बात में भी होती

है कि नारायण ने अपने ग्रन्थ में भट्टोजि के ग्रन्थ से कहीं सहायता नहीं ली। प्रक्रियासर्वस्व के सम्पादक ने लिखा है कि कई लोग पूर्वोक्त घटना का विपरीत वर्णन करते हैं। अर्थात् नारायणभट्ट भट्टोजि से मिलने के लिये केरल से चला, परन्तु मार्ग में भट्टोजि की मृत्यु सुनकर वापस लौट गया। नारायण का गुरु मीमांसकमूर्धन्य माधवाचार्य यदि सायण का ज्येष्ठ भ्राता हो, तो नारायण भट्ट का काल विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी मानना होगा। अतः नारायण भट्ट का काल अभी तक विमर्शार्ह है।

११. महादेव वेदान्ती

सांख्य दर्शन के वृत्तिकार महादेव वेदान्ती ने उणादिसूत्रों पर एक लघ्वी वृत्ति लिखी है। यह वृत्ति अडियार (मद्रास) से प्रकाशित हो चुकी है।

परिचय – महादेव वेदान्ती का उल्लेख वेदान्ती महादेव, महादेव सरस्वती वेदान्ती के नाम से भी मिलता है। इसके गुरु का नाम स्वयंप्रकाश सरस्वती है।[१९] महादेव वेदान्ती ने अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ में स्वयंप्रकाशानन्द सरस्वती नाम लिखा है।[२०] तत्त्वचन्द्रिका में सच्चिदानन्द सरस्वती नाम मिलता है।

काल – महादेव वेदान्ती के काल के सम्बन्ध में मतभेद है। रिचर्ड गार्बे ने अनिरुद्ध वृत्ति के उपोद्धात में महादेव वेदान्ती का काल १६०० ई. (वि. सं. १६५७) माना है। 'सांख्यदर्शन का इतिहास' के मनस्वी लेखक श्री उदयवीर जी शास्त्री ने महादेव वेदान्ती की सांख्य वृत्ति की अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षु के भाष्य के साथ तुलना करके महादेव वेदान्ती को अनिरुद्ध से उत्तरवर्ती और विज्ञानभिक्षु से पूर्ववर्ती अर्थात् १३ वीं शती में माना है।[२१]

महादेव वेदान्ती ने विष्णुसहस्रनाम की एक टीका लिखी है। उसमें टीका लिखने का काल इस प्रकार उल्लिखित है–

खबाणमुनिभूमाने वत्सरे श्रीमरवाभिधे।
मार्गासिततृतीयायां नगरे ताप्यलंकृते।।

इस श्लोक के अनुसार विष्णुसहस्रनाम की व्याख्या का काल वि. सं. १७५० है।

इस निश्चित काल के परिज्ञात हो जाने पर श्रीशास्त्री जी का लेख ठीक प्रतीत नहीं होता।

पं. रामअवध पाण्डेय का विचार है कि महादेव वेदान्ती के उणादिकोश पर पेरुसूरि के औणादिक पदार्णव का प्रभाव है। दोनों के ग्रन्थों की १० प्रतिशत् से अधिक पंक्तियां मिलती है। सिन (पं. ३०३।२) शब्द के अर्थ में महादेव ने पेरुसूरि की केवल एक पंक्ति (श्लोकार्ध) को उद्धृत किया है, और आर्या को पूरा भी नहीं किया। इसलिए महादेव वेदान्ती पेरुसूरि से उत्तरवर्ती है।

महादेव वेदान्ती का काल उसकी विष्णुसहस्रनाम की टीका से प्रायः निश्चित है। इसी प्रकार पेरुसूरि का काल भी प्रायः निश्चित है। पेरुसूरि ने अपने गुरु का नाम वासुदेव अध्वरी लिखा है। वासुदेव अध्वरी ने तुक्कोजी के राज्यकाल को बाल मनोरमा व्याख्या लिखी है। यह वासुदेव अध्वरी चोल (तञ्जौर) के भोसलवंशीय शाह जी, शरभ जी, तुक्को जी नामक तीन राजाओं के मंत्री सार्वभौम आनन्दराय का अध्वर्यु था। इन तीनों का राज्यकाल वि. सं. १७४४–१७६३ तक माना जाता है, अतः वासुदेव अध्वरी का काल सामान्यतः वि. सं. १७५०–१८०० तक माना जा सकता है। पेरुसूरि वासुदेव अध्वरी का शिष्य है। अतः इसका काल सं. १७५० से उत्तरवर्ती होगा। ऐसी अवस्था में हमें महादेव वेदान्ती को पेरुसूरि का पूर्ववर्ती मानना चाहिये और महादेव वेदान्ती के उणादिकोष का प्रभाव पेरुसूरि के औणादिक पदार्णव पर मानना पड़ता हैं।

उणादिवृत्ति का नाम – महादेव की उणादिवृत्ति का नाम निज–विनोदा है। वह लिखता है–

'इत्युणादिकोशे निजविनोदाभिधेये वेदान्तिमहादेवविरचिते पञ्चमः पादः सम्पूर्णः।'

उणादिकोश का सम्पादन – इस वृत्ति का जो संस्करण अडियार (मद्रास) से प्रकाशित हुआ है, उसके सम्पादक वी. राघवन हैं। इस संस्करण में बहुत्र प्रमादजन्य पाठभ्रंश उपलब्ध होते हैं। पं. रामअवधा पाण्डेय ने अन्य कई हस्तलेखों के साहाय्य से इसका अति परिशुद्ध संस्करण तैयार किया है। यह अभी तक प्रकाशित नहीं हो पाया।

वाचस्पति गैरोला की भूल – वाचस्पति गैरोला ने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ के कोश प्रकरण में महादेव वेदान्तिन् विरचित 'अनादिकोश' का उल्लेख किया है। (द्र. पृष्ठ ७८२)। इसमें दो भूलें हैं। प्रथम–ग्रन्थ का नाम 'उणादिकोश' है 'अनादिकोश' नहीं। द्वितीय – यह व्याकरण ग्रन्थ है, कोश ग्रन्थ नहीं। प्रतीत होता है

लेखक ने इस ग्रन्थ का अवलोकन बिना किये ही उक्त उल्लेख किया है। गैरोला जी का अंग्रेजी भाषाविज्ञों के अनुकरण पर महादेव वेदान्तिन्–चन्द्रगोमिन् आदि पदों का प्रयोग करना भी चिन्त्य है।

१२. रामभद्र दीक्षित (सं. १७१०-१७६० वि. के लगभग)

रामभद्र दीक्षित ने उणादिपाठ पर एक व्याख्या लिखी है। इस व्याख्या का नाम उणादि मणिदीपिका है। इस ग्रन्थ का एक हस्तलेख तञ्जौर के पुस्तकालय में विद्यमान है। आफ्रेक्ट ने अपने बृहत् सूची पत्र में लेखक का नाम रामचन्द्र दीक्षित लिखा है। यह वृत्ति सन् १६७२ में मद्रास विश्वविद्यालय से मुद्रित हो गई है। इसके सम्पादक डॉ. के कुञ्जनी राजा हैं। यह वृत्ति दूसरे पाद के ५० वें सूत्र तक ही छपी है। सम्भव है सम्पादक के पास हस्तलेख इतना ही होगा।

परिचय – रामभद्र दीक्षित के पिता का नाम यज्ञराम दीक्षित था। रामचन्द्र दीक्षित के गुरु का नाम चोक्कनाथ मखी है। यह रामभद्र का श्वसुर भी है। रामभद्र ने स्वयं लिखा है–

'शेषं द्वितीयमिव शाब्दिकसार्वभौमम्।
श्री चोक्कनाथमखिनं गुरुमानतोऽस्मि।।[२२]

रामभद्र ने सीरदेवीय परिभाषावृत्ति की व्याख्या में अपना जो परिचय दिया है, तदनुसार वह भोसला वंश के शाहजी भूपति अर्पित शाहपुर नाम के अग्रहार (ब्राह्मण–वसति) का निवासी है। शाहजी भूपति ने यह अग्रहार रामभद्र अथवा उसके पिता यज्ञराम को अर्पित किया होगा। परिभाषावृत्ति व्याख्या के आरम्भ में अनेक शास्त्रवित् 'त्र्यम्बक यज्वा' और उसके पुत्र काकोजि का उल्लेख किया है। ये शाहजी के सचिव आनन्दराय मखी के पूर्वज थे।

रामभद्र दीक्षित का एक शिष्य श्रीनिवास स्वरसिद्धान्तमञ्जरी का कर्त्ता हैं

काल – रामभद्र ने उणादिवृत्ति में लिखा है कि उसने यह उणादिवृत्ति शाहजी भूपति की प्रेरणा से लिखी है।[२३] शाहजी का राज्यकाल वि. सं. १७४०–१७६६ तक माना जाता है। कतिपय ऐतिहासिक राज्य का आरम्भ वि. सं. १७४४ से मानते हैं। अतः रामभद्र का काल भी वि. सं. १७४४ के लगभग मानना उचित है।

रामभद्र की अभ्यर्थना–रामभद्र ने उणादिवृत्ति के अन्त में लिखा है–

'धातुप्रत्ययनियोज्य टीकासर्वस्वनियोज्य मनोरमया-नियोज्य शोधनीय- मिदम्'।

१३. वेङ्कटेश्वर (वि. सं. १७६० के समीप)

वेङ्कटेश्वर नाम के लेखक ने उणादिसूत्रों की उणादिनिघण्टु नाम की एक वृत्ति लिखी है। इसका एक हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय के सूचीपत्र में क्रम संख्या ४७३२ पर निर्दिष्ट है। दूसरा हस्तलेख तञ्जौर के हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र भाग ६ पृष्ठ ३७४८ पर उल्लिखित है।

वेङ्कटेश्वर रामभद्र दीक्षित का शिष्य है। अतः वेङ्कटेश्वर का काल वि. सं. १७६० के आसपास समझना चाहिए।

वेङ्कटेश्वर ने रामभद्र दीक्षित के 'पतञ्जलि–चरित' पर भी टीका लिखी है।

१४. पेरुसूरि (वि. सं. १७६०-१८००)

पेरुसूरि नाम के वैयाकरण ने उणादिपाठ पर एक श्लोकबद्ध व्याख्या लिखी है। इसका नाम 'औणादिकपदार्णव' है।

परिचय – पेरुसूरि ने ग्रन्थ में अपना जो परिचय दिया है, उसके अनुसार माता–पिता दोनों का श्रीवेङ्कटेश्वर समाननाम है।[२४] यह श्रीधरवंश का है[२५] और इसके गुरु का नाम वासुदेव अध्वरी है।[२६]

देश – पेरुसूरि ने अपने को काञ्चीपुर का वास्तव्य कहा है।[२७]

काल – पेरुसूरि ने अपने गुरु का नाम वासुदेव अध्वरी लिखा है। यही वासुदेव अध्वरी सिद्धान्तकौमुदी की बालमनोरमा नामक प्रसिद्ध टीका का रचयिता है। बालमनोरमा का काल वि. सं. १७४०–१८०० के लगभग माना जाता है। अतः पेरुसूरि का काल वि. सं. १७६०–१८०० के लगभग मानना उचित है।

वृत्ति का वैशिष्ट्य – ग्रन्थकार ने औणादिक पदों का व्याख्यान करते हुए स्थान–स्थान पर उनसे निष्पन्न तद्धित प्रयोगों का भी निर्देश किया है। सूत्रपाठ की शुद्धि पर ग्रन्थकार ने विशेष बल दिया है और स्थान–स्थान पर अपने द्वारा साम्प्रदायिक = (गुरुपरम्परा प्राप्त) पाठ के आश्रयण का निर्देश किया है।[२८]

अक्षम्य अपराध – पेरुसूरि ने अपनी वृत्ति के लिखने में भट्टोजिदीक्षित विरचित प्रौढमनोरमा से अत्यधिक सहायता ली है।[२९] यह दोनों ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है। कई स्थान ऐसे भी हैं, जहाँ तत्त्वबोधिनी का आश्रयण भी किया है।[३०] परन्तु ग्रन्थकार ने इन दोनों ग्रन्थों का अथवा इनके लेखकों का कहीं भी निर्देश नहीं किया। ग्रन्थ लेखन में ऐसा व्यवहार अशोभनीय है।

यह वृत्ति उणादि ४।१५६ तक ही मद्रास से प्रकाशित हुई है। क्योंकि इसका आधारभूत हस्तलेख भी यहीं तक है। उसका अलग भाग सम्भवतः खण्डित हो गया है।

१५. नारायण सुधी

नारायण नाम के किसी वैयाकरण ने अष्टाध्यायी की प्रदीप अपरनाम शब्दभूषण नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसके हस्तलेख तञ्जौर के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं।

परिचय – नारायण के वंश तथा काल आदि के विषय में कहना कठिन है। शब्दभूषण के तृतीय अध्याय के द्वितीय पाद के अन्त में निम्न पाठ मिलता है –

'इति गोविन्दपुरवास्तव्यनारायण सुधिविरचिते सवार्तिकाष्टाध्यायी-प्रदीपे शब्दभूषणे तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः।'

इसमें नारायण ने अपने को गोविन्दपुर का वास्तव्य लिखा है। भारत में गोविन्दपुर नाम के अनेक स्थान हैं।

नारायण नाम के अनेक वैयाकरण विभिन्न ग्रन्थों के लेखक हो चुके हैं। अतः विशेष परिचय के अभाव में इस नारायण का निश्चय करना और इसके काल का निर्धारण करना कठिन है।

काल का अनुमान – नारायण ने अष्टाध्यायी अ. ३ के द्वितीय पाद के पश्चात् उणादिपाठ की व्याख्या की है और अ. ६ के द्वितीयपाद के अन्त में फिट्सूत्रों की। यह व्याख्यानशैली भट्टोजिदीक्षित विरचित सिद्धान्तकौमुदी और शब्दकौस्तुभ में देखी जाती है। नारायणभट्ट विरचित प्रक्रियासर्वस्व में भी यही शैली है। इससे विदित होता है कि नारायण का शब्दभूषण सिद्धान्तकौमुदी तथा प्रक्रियाकौमुदी के पश्चात् लिखा गया है। सिद्धान्तकौमुदी के अत्यधिक प्रचार होने पर अष्टाध्यायी पर लिखने का क्रम प्रायः समाप्त हो गया था। अतः इस नारायण का काल वि. सं. १८०० के पूर्व माना जा सकता है, इससे उत्तरवर्ती तो नहीं हो सकता।

यद्यपि नारायण की व्याख्या उणादि के किस पाठ पर थी, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, तथापि इस काल में पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा पञ्चपादी पर ही वृत्ति ग्रन्थ लिखने की परम्परा होने से यह वृत्ति भी पञ्चपादी पर ही हो सकती है, दशपादी पर नहीं।

१६. शिवराम (वि. सं. १८५० के समीप)

शिवराम नाम के विद्वान् ने उणादिपाठ पर एक वृत्ति लिखी थी। इसका उल्लेख शिवराम ने अपने काव्य 'लक्ष्मी विलास' (लक्ष्मी प्रकाश) में किया है। वह लिखता है –

'काव्यानि पञ्च स्तुतयोऽपि पञ्चसंख्याः
टीकाश्च सप्तदश चैक उणादिकोशः।'

आफ्रेक्ट ने भी अपनी बृहत् हस्तलेख सूची में इस टीका का उल्लेख किया है। साथ ही यह भी लिखा है कि यह वृत्ति सन् १८७४ में बनारस में छप चुकी है। यह संस्करण हमारे देखने में नहीं आया।

परिचय – अलवर राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय के सूचीपत्र के निर्माता ने पृष्ठ ४६ ग्रन्थ संख्या १०६४ के विवरण में शिवराम के पिता का नाम कृष्णराम तथा शिवराम के ज्येष्ठ भ्राताओं के नाम गोविन्दराम, मुकुन्दराम और केशवराम लिखे हैं।

काल – अलवर के सूचीपत्र के सम्पादक ने शिवराम का काल ईसा की १८ वीं शती लिखा है।

उणादिवृत्ति का नाम – उणादिवृत्ति, जिसका ग्रन्थकार ने उणादिकोश नाम से व्यवहार किया है, का नाम 'लक्ष्मीविलासाभिधान' भी है। इसी नाम से यह काशी से प्रकाशित षट्–कोश–संग्रह में छपी हैं–

अन्य ग्रन्थ – ऊपर जो श्लोकांश उद्धृत किया है, उसमें पांच काव्य ग्रन्थ, ५ स्तुतिग्रन्थ (स्तोत्र), १७ टीकाग्रन्थ, १ उणादिकोश का निर्देश है। उक्त श्लोक के उत्तरार्ध में भूपालभूषण, रसरत्नहार और विद्याविलास ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। इनके अतिरिक्त काव्य लक्ष्मीविलास (जिसमें उक्त वर्णन हैं) तथा परिभाषेन्दु शेखर की 'लक्ष्मीविलास टीका' भी इसने लिखी है।[३१]

१७. रामशर्मा

रामशर्मा नाम के किसी व्यक्ति ने उणादिसूत्रों की एक व्याख्या लिखी है। इसका रचना काल वि. सं. १६४० से पूर्व है इस वृत्ति का प्रकाशन पण्डितपत्र में हुआ है जो काशी से प्रकाशित होता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती (वि. सं. १६३६)

स्वामी दयानन्द ने उणादिपाठ पर एक व्याख्या लिखी है। यह 'उणादिकोष' के नाम से वैदिक यन्त्रालय अजमेर से प्रकाशित हुई है।

परिचय – स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म काठियावाड़ के अन्तर्गत टंकारा नगर के औदीच्य ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पिता सामवेदी ब्राह्मण थे। बहुत अनुसन्धान के अनन्तर इनके पिता का नाम कर्शन जी तिवाड़ी ज्ञात हुआ हैं स्वामी दयानन्द सरस्वती का बाल्यकाल का नाम मूलजी था। सम्भवतः इन्हें मूलशङ्कर भी कहते थे। मूल जी के पिता शैवमतावलम्बी थे। ये अत्यन्त धर्मनिष्ठ दृढ़चरित्र और धनधान्य से पूर्ण वैभवशाली व्यक्ति थे।

भाई-बहन – मूल जी के दो कनिष्ठ सोदर्य भाई थे। उनमें से एक का नाम बल्लभ जी था। उनकी दो बहनें थी, जिनमें बड़ी प्रेमाबाई का विवाह मङ्गल जी लीलाराव जी के साथ हुआ था। छोटी बहन की मृत्यु बचपन में मूलजी के सामने हो गई थी। इनके वैमातृक चार भाई थे। उनके वंशज आज भी विद्यमान हैं।[३२]

प्रारम्भिक अध्ययन और गृहत्याग – मूलजी का पांच वर्ष की अवस्था में विद्यारम्भ और आठ वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार हुआ था। सामवेदी होने पर भी इनके पिता ने शैवमतावलम्बी होने के कारण मूलजी को प्रथम रुद्राध्याय पश्चात् समस्त यजुर्वेद कण्ठाग्र कराया था। इन्होंने घर में ही कुछ व्याकरण का अभ्यास भी किया था। घर में घटी कुछ घटनाओं के कारण इन्हें तीव्र वैराग्य हुआ जिसमें इन्होंने भौतिक सम्पत्ति से परिपूर्ण गृह को सदा के लिये त्याग दिया।

गृह परित्याग के अनन्तर योगियों के अन्वेषण और सच्चे शिव के दर्शन की लालसा से लगभग पन्द्रह वर्ष तक हिमालय की ऊँची–२ बर्फ से ढकी चोटियों पर भ्रमण करते हुए योग की विविध क्रियाओं को सीखा एवं अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया।

गुरु – नर्मदा स्रोत की यात्रा में इन्होंने मथुरा–निवासी प्रज्ञाचक्षु दण्डी विरजानन्द स्वामी के पाण्डित्य की प्रशंसा सुनी। अतः उस यात्रा की समाप्ति पर उन्होंने मथुरा आकर वि. सं. १६१७–१६२० तक लगभग तीन वर्ष स्वामी विरजानन्द से व्याकरण आदिशास्त्रों का अध्ययन किया। स्वामी दयानन्द इन्हें 'व्याकरण का सूर्य' कहा करते थे।

काल – इनका जन्म वि. सं. १८८२ में हुआ एवं मृत्यु वि. सं. १६४० में हुई।

वृत्ति निर्माण काल व स्थान – स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस उणादिवृत्ति की रचना महाराणा सज्जनसिंह के राज्यकाल में मेवाड़ की राजधानी उदयपुर नगर में वि. सं. १६३६ में की थी। इसकी भूमिका के अन्त में ग्रन्थ–रचना का समय वि. सं. १६३८, माघ कृष्णा प्रतिपद् अङ्कित है।

वृत्ति का वैशिष्ट्य – यद्यपि यह वृत्ति स्वल्पाक्षरा है, पुनरपि उणादि वाङ्मय में यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

महत्ता का कारण – महाभाष्यकार पतञ्जलि ने **उणादयो बहुलम्** (अष्टा. ३।३।१) सूत्रस्थ बहुल पद का प्रयोजन बताते हुए लिखा है–

'नैगमरूढिभवं हि सुसाधु। नैगमाश्च रूढिभवाश्चौणादिकाः सुसाधवः कथं स्युः।'

अर्थात् – नैगम और रूढ औणादिक शब्दों के भले प्रकार साधुत्व–ज्ञापन के लिए पाणिनि ने 'बहुल' शब्द का निर्देश किया है।

इस कथन से स्पष्ट है कि भाष्यकार के मत में वेद में रूढ शब्द नहीं है। दूसरे शब्दों में पतञ्जलि वैदिक शब्दों को यौगिक तथा योगरूढ मानते हैं।

इसी प्रसङ्ग में पतञ्जलि ने शाकटायन के मत में सम्पूर्ण शब्दों को धातुज कहा है। नैरुक्त आचार्यों का भी यही मत है।

महाभाष्यकार के इन निर्देशों के अनुसार सभी औणादिक शब्द यौगिक अथवा योगरूढ भी हैं। इतना ही नहीं, उणादिपाठ में स्थान–स्थान पर संज्ञायाम्[33] पद का निर्देश होने से अन्तः साक्ष्य से भी यही विदित होता है कि सम्पूर्ण औणादिक पद रूढ नहीं हैं। अन्यथा स्थान–स्थान पर संज्ञायाम् पद का निर्देश न करके उणादयो बहुलम् (३।३।१) सूत्र में ही संज्ञायाम् पद पढ़ लिया जाता। इसलिए उणादिवृत्तिकार का कर्त्तव्य है कि वह दोनों पक्षों का समन्वय करता हुआ प्रत्येक औणादिक पद के यौगिक, योगरूढ तथा रूढ अर्थों का निर्देश करे। इस समय उणादि की जितनी भी वृत्तियां उपलब्ध हैं, उन सभी में औणादिक शब्दों को रूढ मान कर ही अर्थ निर्देश किया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती का साहस – स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैयाकरणों की उत्तरकालीन उक्त परम्परा का सर्वथा परित्याग करके अपनी वृत्ति में प्रत्येक अर्थों का निर्देश किया है। यथा–

करोतीति कारुः – कर्ता, शिल्पी वा।[34]
वाति गच्छति जानाति वेति वायुः–पवनः, परमेश्वरो वा।[34]

इन उद्धरणों के प्रथम और तृतीय पाठ में कर्ता और रक्षक ये यौगिक अर्थ हैं। तथा शिल्पी और गुदेन्द्रिय योगरूढ वा रूढ अर्थ हैं।

भगवान् पतञ्जलि तथा नैरुक्त आचार्यों के मतानुसार वेद में प्रयुक्त कारु और वायु शब्द के यौगिक अर्थ कर्ता और रक्षक ही सामान्य रूप से हैं, केवल शिल्पी और गुदेन्द्रिय नहीं है। यही अभिप्राय वृत्तिकार ने यौगिक अर्थों का निर्देश करके दर्शाया है।

द्वितीय पाठ में भी **सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः**[35] इस प्राचीन मत के अनुसार वाति के जानाति अर्थ का भी निर्देश किया है। इस अर्थ के अनुसार सर्वज्ञ भगवान् परमेश्वर का भी परमेश्वर पद से ग्रहण होता है, यह दर्शाया है। इसी अर्थ को यजुर्वेद का –

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।।३२।१।

यह मन्त्र भी व्यक्त कर रहा है। इस मन्त्र में ब्रह्म प्रजापति आदि का वायु पद से भी संकीर्तन किया है।

इतना ही नहीं, निघण्टु, निरुक्त तथा ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में वैदिक अग्नि–वायु–आदित्य आदि शब्दों के जितने अर्थ दर्शाए हैं, वे सब मूलभूत एक धात्वर्थ को स्वीकार करके ही उत्पन्न हो सकते हैं। यदि उन सब अर्थों में वाचकशक्ति अथवा संकेत स्वीकार करना होगा। इस प्रकार बहुत गौरव होगा।

अन्य वैशिष्ट्य – प्रतिशब्द यौगिक अर्थों के निर्देश के अतिरिक्त इस वृत्ति में एक और विशेषता है। वह है– स्थान–स्थान पर निरुक्त, निघण्टु, ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में निर्दिष्ट वैदिक अर्थों का उल्लेख करना। यथा –

वर्तते सदैवासौ वृत्रः – मेघः, शत्रुः, तमः, पर्वतः, चक्रं वा।[३६]

इसीलिये स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उणादिव्याख्या के प्रत्येक पाद के अन्त में 'उणादिव्याख्याया वैदिकलौकिककोषे' विशिष्ट पद का निर्देश किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती से पूर्ववर्ती कतिपय वृत्तिकारों ने केवल उणादिकोश शब्द का व्यवहार किया है। परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी व्याख्या के लिए वैदिकलौकिक कोष पद का उल्लेख किया है।

इस दृष्टि से स्वामी दयानन्द की यह स्वल्पाक्षरा वृत्ति सम्पूर्ण उणादि वाङ्मय में मूर्धाभिषिक्त है।

वृत्ति का आधारभूत मूल सूत्रपाठ – स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उणादि के जिस पाठ पर वृत्ति लिखी है, वह उज्ज्वलदत्त पाठ से बहुत भिन्नता रखता है इस वृत्ति का आधारभूत सूत्रपाठ एक हस्तलेख पर आश्रित है। यह हस्तलेख स्वामी दयानन्द सरस्वती के हस्तलेख

संग्रह में विद्यमान था। पं. मीमांसक जी ने इसे वि. सं. १६६२ में श्रीमती परोपकारिणी सभा अजमेर के संग्रह में देखा था। इस हस्तलेख में सूत्रपाठ के साथ–साथ सूत्रों के उदाहरण भी निर्दिष्ट हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जो उणादिकोष छपवाया है, उसमें इस हस्तलेख के पाठ को सर्वथा उसी रूप में सुरक्षित रखा है। अर्थात् ऊपर हस्तलेखानुसार सूत्रपाठ और उदाहरण दिए हैं, तथा नीचे अपना वृत्तिग्रन्थ पृथक् छापा है।

इस हस्तलेख तथा उस पर आश्रित मुद्रित सूत्रपाठ में अनेक स्थानों पर किसी वृत्ति ग्रन्थ का संक्षिप्त पाठ निर्दिष्ट है। यथा –

(क) उणादिकोष ३।६७ पर सूत्रपाठ है– दधातेर्द्वित्वमित्त्वं सुक्च यह स्पष्ट किसी वृत्ति का पाठ है। वहाँ मूल सूत्रपाठ दधिषाट्यः होना चाहिये।

(ख) उणादिकोष ४।२३७ पर सूत्रपाठ है – सर्त्तेरप्पूर्वादसिः। यह भी किसी वृत्ति का पाठ है। यहाँ पर मूल सूत्रपाठ 'अप्सराः' होना चाहिये।

(ग) इसी प्रकार उणादिकोष ४।२३८ पर सूत्रपाठ है– **विदिभुजिभ्यां विश्वेऽसिः।** यह पाठ भी किसी वृत्ति का संक्षेप है। सूत्र २३७ में तथा २३८ दोनों में 'असि' प्रत्यय का समान रूप से निर्देश होना इस बात का ज्ञापक है कि ये दोनों सूत्र रूप से स्वीकृत पाठ भी किसी वृत्ति के अंश है। इनमें सर्त्तेरप्पूर्वादसिः पाठ इसी रूप में उज्ज्वलदत्त की उणादिवृत्ति ४।२३६ में उपलब्ध होता है।

वृत्ति में पाठभ्रंश – स्वामी दयानन्द की वृत्ति का जो पाठ वैदिक यन्त्रालय अजमेर का छपा मिलता है, उसमे पाठभ्रंश अत्यधिक है। कई स्थानों पर पाठ त्रुटित है, कई स्थानों पर पाठ आगे पीछे अस्थान में हो गये है। कई स्थानों में संशोधकों ने उत्तरवर्ती संस्करणों में ग्रन्थकार–सम्मत पाठ में भी परिवर्तन कर दिया है। इस प्रकार यह

अत्यन्त उपयोगी और श्रेष्ठतम वृत्ति भी पाठभ्रंश आदि दोषों के कारण सर्वथा अनुपयोगी सी बनी हुई है। इसकी श्रेष्ठता और उपयोगिता को देखते हुए इसके शुद्ध संस्करण की अत्यधिक आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति पं. मीमांसक जी ने सम्पादित कर पूरी की।

अज्ञातनामा वृत्तिकार

१६. अज्ञातनाम

तञ्जौर हस्तलेख पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग १० में संख्या ५६७७ पर पञ्चपादी उणादिपाठ पर एक अज्ञातनामा वैयाकरण की वृत्ति का निर्देश है।

२०. अज्ञातनामा

किसी अज्ञातनामा वैयाकरण की पञ्चपादी उणादिवृत्ति का "उणादिकोश" नाम से तञ्जौर के पुस्तकालय में एक हस्तलेख विद्यमान है जो सूचीपत्र भाग १०, संख्या ५६७८ में देखा जा सकता है।

२१. अज्ञातनामा

मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग–३ (सन् १६०६ का छपा) में पृ. ६१६ पर एक 'उणादिसूत्रवृत्ति' का निर्देश है। इसकी संख्या १२६६ है। यह पञ्चपादी पर है, और इसका लेखक कोई जैन विद्वान् है।

२२. अज्ञातनाम

मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह में एक उणादिसूत्र का हस्तलेख विद्यमान है। द्र. सूचीपत्र भाग १०, पृष्ठ ६२६ (सन् १६०६) संख्या ६१३। इसके अन्त में पाठ है–'इति पाणिनीये उणादिसूत्रे पञ्चमः पादः' यह मूल सूत्रपाठ है अथवा वृत्तिग्रन्थ, यह द्रष्टव्य है।

दशपादी-उणादिपाठ

पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा आश्रित उणादिसूत्रों का दूसरा पाठ 'दशपादी उणादिपाठ' के नाम से प्रसिद्ध है।

दशपादी का आधार पञ्चपादी

दशपादी उणादि–पाठ का संकलन उणादि–सिद्ध शब्दों के अन्त्यवर्णक्रम के अनुसार किया गया है। यह संकलन भी पञ्चपादीय पाठ पर आश्रित है अर्थात् दशपादी में तत्तद् अन्त्य वर्ण वाले शब्दों के साधक सूत्रों का संकलन करते समय पहले पञ्चपादी के प्रथम पाद के सूत्रों का संकलन किया गया है। तत्पश्चात् क्रमशः द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम पाद के सूत्रों का। यहाँ इस बात को स्पष्ट करने के लिये दशपादी के प्रथम पादस्थ इवर्णान्त शब्दसाधक सूत्रों के संकलन का निर्देश किया जाता है–

सूत्रसंख्या १–६ तक पञ्चपादी के द्वितीय पाद के सूत्र
सूत्रसंख्या १०–१२ तक पञ्चपादी के तृतीय पाद के सूत्र
सूत्रसंख्या १६–७५ तक पञ्चपादी के चतुर्थ पाद के सूत्र
सूत्रसंख्या ७७–८१ तक पञ्चपादी के पञ्चम पाद के सूत्र
इसी प्रकार उवर्णान्त शब्दों में –
सूत्र संख्या ८६–१३२ तक पञ्चपादी के प्रथम पाद के सूत्र
सूत्र संख्या १३३ तक पञ्चपादी के द्वितीय पाद के सूत्र
सूत्र संख्या १३४–१५४ तक पञ्चपादी के तृतीय पाद के सूत्र
सूत्र संख्या १५५–१५६ तक पञ्चपादी के चतुर्थ पाद के सूत्र
सूत्र संख्या १६०–१६२ तक पञ्चपादी के पञ्चम पाद के सूत्र

इसी प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ में तत्तद् वर्णान्त शब्दों के साधक सूत्रों का संकलन पञ्चपादी के तत्तद् पादस्थ सूत्रों के क्रम से ही किया है। इससे स्पष्ट है कि दशपादी पाठ का मूल आधार पञ्चपादी पाठ है। इसमें निम्न हेतु भी द्रष्टव्य हैं–

(क) पञ्चपादी पाठ में अनेक ऐसे सूत्र हैं, जिनमें नकारान्त शब्दों के साधुत्व प्रदर्शन के साथ–साथ उन णकारान्त शब्दों का निर्देश भी है, जिनमें रेफ आदि को निमित्त मान कर अन्त्य न वर्ण ण वर्ण में परिवर्तित हो जाता है। यथा –

पञ्चपादी २।४८ में इनच् प्रत्ययान्त–श्येन, स्तेन, हरिण और अविन शब्दों का साधुत्व दर्शाया है।

पञ्चपादी २।७६ में युच् प्रत्ययान्त – सवनः, यवनः, रवणः वरणम् शब्दों का निर्देश है।

इसी प्रकार पञ्चपादी के जिन सूत्रों में णकारान्त और नकारान्त शब्दों का एक साथ निदर्शन कराया है, उन सब सूत्रों को दशपादीकार ने ढकारान्त शब्दों के अनन्तर संगृहीत किया है। और इस प्रकरण के अन्त में (सूत्र–वृत्ति ५।६४) णकारो नकारसहितः कहकर उपसंहार किया है। इससे भी स्पष्ट है कि दशपादी उणादिसूत्रों का पाठ किसी अन्य पुराने पाठ पर आश्रित है। यदि दशपादी का अपना स्वतन्त्र पाठ होता, तो उसका प्रवक्ता णकारान्त और नकारान्त शब्दों के साधन के लिये पृथक् पृथक् सूत्रों का ही प्रवचन करता, दोनों का सांकर्य न करता।

(ख) दशपादी पाठ में नवम पाद के अन्त में हकारान्त शब्दों का संकलन पूरा हो जाता है। दशम पाद में उन सूत्रों का संकलन है, जिनमें अनेक प्रत्ययों का पाठ उपलब्ध होता है, और उनसे विभिन्न वर्णान्त शब्दों का साधुत्व कहा गया है। यथा –

प्रथम सूत्र में – आल, वालज् आलीयर् प्रत्यय।
पञ्चम सूत्र में – उन, उन्त, उन्ति उनि प्रत्यय।
इसी प्रकार अन्यत्र भी।

यदि दशपादी पाठ का स्वतन्त्र प्रवचन होता, तो इसका प्रवक्ता इस पाद के सूत्रों में एक साथ कहे गये विभिन्न प्रत्ययों को तत्तत् वर्णान्त प्रत्ययों के प्रकरण में बड़ी सुगमता से संकलन कर सकता था। उसे व्यामिश्रित वर्णान्त प्रत्ययों के लिये प्रकीर्ण संग्रह करने की आवश्यकता न होती। इससे भी यही बात पुष्ट होती है कि दशपादी पाठ का मुख्य आधार पञ्चपादी पाठ है।

दशपादी पाठ का वैशिष्ट्य

यद्यपि दशपादी पाठ के प्रवक्ता ने अपना मुख्य आधार पञ्चपादी पाठ को ही बनाया है, पुनरपि इसमें दशपादी पाठ के प्रवक्ता का स्वोपज्ञात अंश भी अनेकत्र उपलब्ध होता है। यह उपज्ञात अंश दो प्रकार का है–

१. पञ्चपादी सूत्रों का तत्साधक शब्दों के अन्त्य वर्णक्रम से संकलन करते समय अनेक स्थानों पर अनुवृत्ति दोष उत्पन्न होता है। उस दोष के परिमार्जन के लिये दशपादी–प्रवक्ता ने उन–उन सूत्रों में तत्तद् विशिष्ट अंश को जोड़कर अनुवृत्ति दोष को दूर किया है। यथा –

(क) पञ्चपादी उणादि में क्रमशः **स्रुवः कः, चिक्च** दो सूत्र (२।६१, ६२) पढ़े हैं। दशपादी संकलन क्रम में प्रथम सूत्र कुछ पाठान्तर से ८।३० में रखा गया है, द्वितीय सूत्र के कान्त स्रुक् शब्द की निष्पत्ति होने से उसे कान्त प्रकरण (द्वितीय पाद) में रखना आवश्यक हुआ। इन दोनों सूत्रों को विभिन्न स्थानों में पढ़ने पर, स्रुक् शब्द साधक द्वितीय सूत्र में पञ्चपादी क्रम से पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति द्वारा प्राप्त होने वाली स्रु धातु का दशपादी क्रम में अभाव प्राप्त होता है। इस दोष की निवृत्ति के लिये दशपादी के प्रवक्ता ने 'स्रु' धातु का निर्देश करते हुए स्रुवः चिक् ऐसा न्यासान्तर किया।

(ख) पञ्चपादी का एक सूत्र है – लङ्घेर्नलोपश्च (१।१३५)। इसमें अटि प्रत्यय की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र से आती है। दशपादीकार ने पञ्चपादी के सर्त्तेरटिः सूत्र पर सिद्ध सरट् शब्द को डकारान्त सरड् मानकर उसे डान्त प्रकरण में पढ़ा और लघट् शब्द साधक सूत्र को टान्त प्रकरण में। इस प्रकार विभिन्न स्थानों पर पढ़ने के कारण लघट् शब्द साधक **लङ्घेर्नलोपश्च** सूत्र में अटि प्रत्यय की अनुवृत्ति की अप्राप्ति होने पर दशपादी के प्रवक्ता ने **लङ्घेरटिनलोपश्च** (५।१)। ऐसा न्यासान्तर करके अनुवृत्ति दोष का परिमार्जन किया है।

इस प्रकार दशपादी के संकलन में जहाँ–जहाँ भी अनुवृत्ति दोष उपस्थित हो सकता था, वहां–वहां तत्तत् अंश जोड़कर सर्वत्र अनुवृत्ति दोष का निराकरण किया है।

(ग) दशपादी पाठ में कई ऐसे सूत्र हैं, जो पञ्चपादी पाठ में उपलब्ध नहीं होते। इन सूत्रों का संकलन या तो दशपादी के प्रवक्ता ने किन्हीं अन्य प्राचीन उणादिपाठों से किया है अथवा ये सूत्र उसके मौलिक वचनरूप हैं। इनमें निम्न सूत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं–

(क) **जीवेरदानुक्** ।१।१६३।

इस सूत्र को महाभाष्यकार पतञ्जलि ने हयवरट् सूत्र पर उद्धृत किया है। **लोपो व्योर्वलि** (६।१।६६) सूत्र के भाष्य में भी इसकी ओर संकेत किया है। काशिकाकार ने ६।१।६६ पर तथा न्यासकार ने भाग १, पृष्ठ २० पर इसे उद्धृत किया है।

इस सूत्र का माहात्म्य – यद्यपि भाष्यकार आदि ने इस सूत्र द्वारा 'रदानुक्' प्रत्ययान्त जीरदानु शब्द के साधुत्व का ही प्रतिपादन किया है[३७], तथापि इस सूत्र के संहिता पाठ को प्रामाणिक मानकर जीवेः+अदानुक् विच्छेद करने पर जीवदानु पद के साधुत्व का भी बोध होता है। वैदिक ग्रन्थों में दोनों शब्द एकार्थ में ही प्रयुक्त होते हैं। यथा –

पृथिवीं जीवदानुम्। शु. यजुः १।२८।।
पृथिवीं जीरदानुम्। तै. सं. १।१।१।।

(ख) **हन्ते रन् घ च** ।८।११४।

इस सूत्र द्वारा 'हन्' धातु से 'रन्' और धातु को 'घ' आदेश होता है। घ आदेश अनेकाल् होने से पूरी 'हन्' धातु के स्थान पर होता है। इस प्रकार घर शब्द निष्पन्न होता है। वृतिकारों ने इसका अर्थ गृह बताया है। 'भट्टोजिदीक्षित ने प्रौढमनोरमा पृ. ८०८ में इस सूत्र को उद्धृत किया है। उसका अनुकरण करते हुए ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने भी तत्त्वबोधिनी (पृ. ५६२) में निर्देश किया है।

प्राकृत भाषा तथा हिन्दी भाषा में गृहवाचक जो 'घर' शब्द प्रयुक्त होता है, उसे साम्प्रतिक भाषाविज्ञानवादी 'गृह' का अपभ्रंश मानते हैं। जैन संस्कृत कथाग्रन्थों में बहुत्र घर शब्द का निर्देश मिलता है। यथा – **पुनर्नृपाहूतः स्वघरे गतः।**[३८] इसे तथा एतत्सदृश अन्य शब्दों के प्रयोगों को प्राकृत प्रभावजन्य कहते हैं। ये दोनों ही कथन चिन्त्य हैं, यह इस औणादिक सूत्र से स्पष्ट है।

इतना ही नहीं क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी १०/६८ पृ. २६० में घर स्रवणे का पाठान्तर लिखा है–

घर स्रवणे इति दुर्गः।

इस पाठ में दुर्ग सम्मत घर धातु से 'अच्' प्रत्यय होकर गृहवाचक 'घर' शब्द सिद्ध हो जाता है। दुर्ग के 'घर' धातुनिर्देश से भी घर शब्द शुद्ध संस्कृत का है, गृह का अपभ्रंश नहीं है, यह स्पष्ट है।

दशपादी उणादि १०/१५ में व्युत्पदित मच्छ शब्द भी इसी प्रकार का है जो शुद्ध संस्कृत का होते हुए भी 'मत्स्य' का अपभ्रष्ट रूप माना है।[३९]

इस प्रकार दशपादी उणादिपाठ में और भी अनेक प्रकार का वैशिष्ट्य उपलब्ध होता है।

दशपादी के वृत्तिकार

दशपाठी पाठ पर भी पंचपादी पाठ के समान अनेक वैयाकरणों ने वृत्तिग्रन्थ लिखे होंगे, परन्तु इस पाठ के पठन–पाठन में व्यवहृत न होने के कारण अनेक वृत्ति ग्रन्थ काल–कवलित हो गये, ऐसी सम्भावना है। सम्प्रति दशपादी पाठ पर तीन ही वृत्तिग्रन्थ उपलब्ध हैं। उपलब्ध वृत्तियों के विषय में नीचे विवरण उपस्थित किया जाता है–

१. माणिक्यदेव (७०० वि. सं. पूर्व)

दशपाठी उणादिपाठ की यह एक अति प्राचीन वृत्ति है। इस वृत्ति के उद्धरण अनेक प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। यह वृत्ति

वि. सं. १६३२ (सन् १८७५) में काशी में लीथो प्रेस में छप चुकी है। इसके एक प्रमाणिक संस्करण का सम्पादन पं. मीमांसक जी ने भी किया है।

वृत्तिकार का नाम – आफ्रेक्ट ने अपनी बृहत् हस्तलेख सूची में इस वृत्ति के लेखक का नाम माणिक्यदेव लिखा है। पूना के डेक्कन कालेज के पुस्तकालय के सूची पत्र में भी इसका नाम माणिक्यदेव ही निर्दिष्ट है। वाराणसी में लीथो प्रेस में प्रकाशित पुस्तक के आदि के सात पादों में ग्रन्थकार के नाम का उल्लेख नहीं है, परन्तु अन्तिम के तीन पादों में उज्ज्वलदत्त का नाम निर्दिष्ट है। इस वृत्ति का एक हस्तलेख तञ्जौर के पुस्तकालय में भी है। उसके ग्रन्थ की समाप्ति के अनन्तर कुछ स्थान रिक्त छोड़कर उज्ज्वलदत्त का नाम अङ्कित है। उक्त पुस्तकालय के सूचीपत्र के सम्पादक ने आफ्रेक्ट के प्रमाण से ग्रन्थकार का माणिक्यदेव नाम लिखा है।

इस वृत्ति के संस्कृत वाङ्मय के विविध ग्रन्थों से जितने भी उद्धरण संगृहीत किये, सर्वत्र या तो वे दशपादी वृत्तिकार के नाम से उद्धृत हैं अथवा बिना नामनिर्देश के।

काशी मुद्रित तथा तञ्जौर के हस्तलेख के अन्त में उज्ज्वलदत्त का नाम कैसे अङ्कित हुआ, यह भी विचारणीय है। क्योंकि इस वृत्ति का एक भी उद्धरण उज्ज्वलदत्त के नाम से कहीं भी निर्दिष्ट नहीं है। पञ्चपादी पाठ के एक वृत्तिकार का नाम उज्ज्वलदत्त अवश्य है, परन्तु उसने सर्वत्र अपने नाम के साथ जाजलि पद का निर्देश किया है। उक्त दोनों प्रतियों में जाजलि का उल्लेख नहीं है। इतना ही नहीं, दोनों वृत्ति–ग्रन्थों की रचना–शैली में भूतल–आकाश का अन्तर है। इसलिये दशपादी की इस वृत्ति का रचयिता पञ्चपादी वृत्तिकार उज्ज्वलदत्त नहीं हो सकता, यह निश्चय है। अनुमान है कि उणादि वाङ्मय में उज्ज्वलदत्त की अतिप्रसिद्धि के कारण लीथो प्रेस काशी की छपी तथा तञ्जौर के हस्तलेख में उज्ज्वलदत्त का नाम प्रविष्ट हो गया है।

आफ्रेक्ट का लेख सत्य – आफ्रेक्ट ने अपने हस्तलेखों के सूचीपत्र में प्रकृत दशपादी उणादिवृत्ति के लेखक का जो माणिक्यदेव नाम लिखा है वह ठीक है। भण्डारकर प्राच्यविद्या शोध प्रतिष्ठान, पूना के संग्रह में दशपादी उणादिवृत्ति के चार हस्तलेख हैं। द्र. – सन् १९३८ का छपा व्याकरण विषयक सूचीपत्र, ग्रन्थ संख्या २६३; २७५/१८७३–७६/२६४; २७६/१८७५–७६/२६५, २७४/१८७५–७६/२६६; ५६/१८६५–६८।

इनमें से संख्या २६३ के हस्तलेख के अन्त में निम्न पाठ मिलता है–

इति उणादिवृत्तौ विप्रकीर्णको दशमः पादः। समाप्ता चेयमुणादिवृत्तिः। कृतिराचार्यमाणिक्यस्येति।शुभमस्तु।

संख्या २६४ के हस्तलेख के अन्त में पाठ है–

उणादिवृत्तौ दशमः पादः।। समाप्ता चेयमुणादिवृत्तिः। कृतिराचार्यमाणि- क्यस्येति।

ये दोनों हस्तलेख कश्मीर से संगृहीत किये गये हैं। शारदा लिपि में भूर्जपत्र पर लिखे हैं। हस्तलेख अति पुराने हैं। संख्या २६० के हस्तलेख के अन्त में। सूची पत्र में इसे सप्तर्षि संवत् माना है।

इन प्राचीन हस्तलेखों की उपस्थिति में इस वृत्तिकार के माणिक्यदेव नाम में सन्देह का कोई स्थान नहीं है।

देश – दशपादीवृत्ति के सबसे प्राचीन हस्तलेखों के कश्मीर की शारदालिपि में लिखित होने से इस वृत्ति का रचयिता माणिक्यदेव कश्मीर का ही है। ऐसा मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

काल – इस वृत्तिकार का काल अज्ञात है। हमने इस वृत्ति के प्राचीन ग्रन्थों से जो उद्धरण संगृहीत किये हैं, उनके आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि इस वृत्ति की रचना का काल ७०० विक्रम से पूर्व है। इसमें निम्न प्रमाण हैं–

१. भट्टोजिदीक्षित (वि. सं. १५१०–१५७५) ने सिद्धान्त–कौमुदी की प्रौढमनोरमा नाम की व्याख्या में दशपादीवृत्ति के अनेक पाठ उद्धृत किये हैं। यथा –

प्रौढमनोरमा	**दशपादीवृत्ति**
(क) खरुशब्दस्य क्रूरो मूर्खश्च इत्यर्थद्वयं दशपादीवृत्यनु सारेणोक्तम्। पृ. १५१	खनतीति खरुः–क्रूरो मूर्खश्च पृ. ७७
(ख) फर्फरादेश इत्युज्ज्वलदत्तरी त्योक्तम्। वस्तुतस्तु धातोर्द्वि– त्वमुकारस्याकारः सलोपो रुक् पृ. चाभ्यासस्येति दशपाद्योक्तमेवन्याट्यम्। पृष्ठ ७८७।।	अस्य अभ्यासस्य कादेशोपात्व –सलोपा निपात्यन्ते। फर्फरीका। १५३।

२. देवराज यज्वा (वि. सं. १३७० से पूर्व) ने अपनी निघण्टु टीका में इस वृत्ति के अनेकपाठ नामनिर्देश के बिना उद्धृत किये हैं। यथा–

निघण्टुटीका	**दशपादीवृत्ति**
(क) बाहुलकादभिधानलक्षणाद्वा क्वचिन्नकारस्येत् संज्ञा न भवतीत्युणादिवृत्तिः। पृ. १०६	बाहुलकादभिधानलक्षणाद्वा नकारस्येत्संज्ञा न भवति। पृ. २७६।
(ख) बाहुलकादभिधानलक्षणाद्वा नकारस्येत्संज्ञाया अभाव एवास्मिन् सूत्रे वृत्तिकारेणोक्तम्। पृ. २१०।	,, ,, ,, ,,

(ग) णिलोपे चोपधाया ह्स्वत्वं अस्य णेर्लुगुपधाह्रस्वास्वं च निपात्यते। शीलयति शीलतीति च शीलन्ति तद् शीलयन्ति वा शिल्पम् यत् कुम्भकारादीनां तदिति शिल्पम्, क्रियाकौशलं कर्म इत्युणादिवृत्तिः। कर्म यत् कुम्भकारादीनाम् पृष्ठ १७२। पृष्ठ २६३।

इनमें प्रथम उद्धरण दोनों में सर्वथा समान हैं, द्वितीय उद्धरण

समान न होते हुए भी अर्थतः अनुवाद रूप है। तृतीय उद्धरण दोनों पाठों में अर्थतः समान होने पर भी कुछ पाठभेद रखता है। इस भेद का कारण यह हो सकता है कि देवराज द्वारा दशपादीवृत्ति पाठ का स्वशब्दों में निर्देश किया गया है। देवराज के उक्त पाठ का उणादि की अन्य वृत्तियों के साथ न शब्दतः साम्य है न अर्थतः। अतः देवराज ने दशपादीवृत्ति पाठ को ही स्वशब्दों में उद्धृत किया है, यह स्पष्ट है।

३. दैव ग्रन्थ की पुरुषकार नाम्नी व्याख्या के लेखक कृष्ण लीलाशुक मुनि (वि. सं. १३००) ने भी दशपादीवृत्ति का पाठ बिना नामनिर्देश के उद्धृत किया है। यथा –

पुरुषकार

दशपादीवृत्ति

करोति कृणोति करतीति वा कारुः करोति कृणोति करति वा इति च कस्याञ्चिदुणादिवृत्तौ दृश्यते। कारुः। पृष्ठ ५३। पृष्ठ ३८।

४. आचार्य हेमचन्द्र (१२ वीं शती उत्तरार्ध) ने स्वोपज्ञ उणादिवृत्ति में दशपादी के अनेक पाठों का नाम निर्देश के बिना उल्लेख किया है। यथा –

हैमोणादिवृत्ति दशपादीवृत्ति

केचित्....... प्रत्ययस्य दीर्घत्वमिच्छन्ति। स्यमेर्धातोः किकन् प्रत्ययो भवति, सिमीकः – सूक्ष्मकृमिः। भवति, सम्प्रसारणं च प्रत्यय सूत्र ४४। सिमीकः सूक्ष्मा कृमिजातिः। पृ. १३५।

(ख) परिवत्सरादीन्यपि वर्षविशेषाभिधाना– एवं परिवत्सरः विवत्सरः, नीत्येके।सूत्र ४३६, पृ. ७८। इद्वत्सरः, इदावत्सरः। इत्सरः अयनद्वयविषयः।पृ. ३२५।

इसी प्रकार हैम धातुपारायण में भी दशपादीवृत्ति के पाठ बहुत निर्दिष्ट हैं।

५. क्षीरस्वामी ने स्वकीय क्षीरतरङ्गिणी में बहुत्र दशपादीवृत्ति से सहायता ली है। दोनों के पाठ बहुत्र एक समान हैं। कहीं–२ एके आदि द्वारा परोक्ष रूप से दशपादीवृत्ति की ओर सङ्केत भी किये हैं। यथा –

क्षीरतरङ्गिणी	**दशपादीवृत्ति**
जनिदाच्यु (उ. ४।१०४) इति मत्सः। मच्छ इत्येके....	जनिदाच्यु..... (द. उ. १०/१५) माद्यतीति मच्छः–मत्तः पुरुषः।

६. काशिकावृत्ति का रचयिता वामन (वि. सं. ६६५) तृतीया कर्मणि (६।२।४८) सूत्र की व्याख्या में प्रसंगवश दशपादीवृत्ति की ओर संकेत करता है–

काशिका	**दशपादीवृत्ति**
आङि श्रिहनिम्यां ह्रस्वश्चेति आङ्युपपदे श्रि हनि इत्येताभ्यां अहिरन्तोदात्तो व्युत्पादितः। केचित्त्वाद्युदात्तमिच्छन्ति। पृ. ५५१ द्रष्टव्य – ख्यः स चोदात्त इत्युदात्तग्रहण मनुवर्तयन्ति। न्यास भाग २	धातुभ्यामिण् प्रत्ययो भवति डिच्च, ह्रस्वश्च, पूर्वपदस्य ते समाने चोदात्तः। पृष्ठ ४१।[४०] पृ. ३५३।

दशपादी वृत्ति का वैशिष्ट्य – दशपादी वृत्ति में अनेक वैशिष्ट्य हैं। मुख्य वैशिष्ट्य इस प्रकार हैं–

१. यह वृत्ति उपलभ्यमान सभी उणादिवृत्तियों में प्राचीनतम है।

२. कौन सा शब्द किस धातु में किस कारक में व्युत्पाद्य है,

यह इस वृत्ति में सर्वत्र स्पष्ट रूप से दर्शाया है। यथा – **ऋच्छत्यर्यते वा ऋतुः कालः ग्रीष्मादिः, स्त्रीणां च पुष्पकालः। कर्त्ता कर्म च।** पृष्ठ ८२।

३. पाणिनीय धातुपाठ के साम्प्रतिक पाठ में अनुपलभ्यमान बहुत सी धातुओं का निर्देश उपलब्ध होता है। यथा –

(क) 'कृ करणे भौ.। करोति कृणोति करति वा कारुः।' पृष्ठ २५३।

(ख) 'धूञ् कम्पने सौ. क्रै., धू विधूननै भौ.। धूनोति धुनाति' धुरति वा धुवकः। पृ १२६, १३०।

इन पाठों में कृ और धू धातु का भ्वादिगण में पाठ दर्शाया है, परन्तु पाणिनीय धातुपाठ के साम्प्रतिक पाठ में ये भ्वादि में उपलब्ध ा नहीं होतीं।

४. इस वृत्ति में **'एके' 'केचित्' 'अन्ये'** शब्दों द्वारा बहुत्र पूर्व वृत्तिकारों के मत उद्धृत हैं।

५. इस वृत्ति में पृ. २६, १२४, १६१, १६२, २३६ पर किसी ऐसे प्राचीन कोश के ६ श्लोक उद्धृत हैं, जिनमें वैदिक पदों का संग्रह भी था। पृ. १६२, १६१ में जो श्लोक उद्धृत हैं वे तरसान और मन्दसान शब्द वेदविषयक हैं।

६. इसमें पृ. १०४ पर 'लुग्लोपे न प्रत्ययकृतम्' तथा पृ. २३७ पर धुटां तृतीयश्चतुर्थेषु ये दो कातन्त्र व्याकरण के सूत्र उद्धृत हैं। कातन्त्र में ये सूत्र क्रमशः ३।८।२८, ८ पर हैं।

७. इसके पृष्ठ १३२ पर किसी काव्य का **धमः काञ्चनस्येव राशिः** वचन उद्धृत है।

दशपादीवृत्ति के उद्धरण – दशपादीवृत्ति के उद्धरण साक्षात् नामनिर्देश द्वारा अथवा एके अपरे शब्दों द्वारा निम्न ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं –

१. सिद्धान्त चन्द्रिका – सुबोधिनी टीका
२. उणादि प्रकरण व्युत्पत्तिसार टीका
३. अज्ञातनामा दशपादीवृत्ति
४. औणादिक पदार्णव
५. सिद्धान्तकौमुदी टीका–तत्वबोधिनी
६. सिद्धान्तकौमुदी टीका–प्रौढ़मनोरमा
७. नरसिंहदेवकृत भाष्यटीका विवरण (छलारी टीका)
८. प्रक्रिया कौमुदी टीका
९. माधवीया धातुवृत्ति
१०. देवराज यज्वा कृत निघण्टुटीका
११. दैवटीका पुरुषकार
१२. हैम उणादिवृत्ति
१३. हैम धातुपारायण
१४. क्षीरस्वामी–क्षीरतरङ्गिणी
१५. न्यास–काशिका पञ्जिका
१६. काशिकावृत्ति

२. अज्ञातनाम (वि. सं. १२०० से पूर्व)

दशपादी उणादिपाठ की किसी अज्ञातनाम लेखक की वृत्ति उपलब्ध होती है। इस वृत्ति का एकमात्र हस्तलेख काशी के सरस्वती भवन के संग्रह में सुरक्षित है।

यह हस्तलेख नवम पाद के १६ वें सूत्र के अनन्तर खण्डित है और मध्य में भी बहुत जीर्ण होने से त्रुटित है। हस्तलेख के अक्षरविन्यास तथा कागज की अवस्था से विदित होता है कि हस्तलेख किसी महाराष्ट्रीय लेखक द्वारा लिखित है और लगभग १५० वर्ष प्राचीन है।

काल – वृत्तिकार के नाम आदि का परिज्ञान न होने से इसका देश काल अज्ञात है। इस वृत्ति की उणादिसूत्रों की अन्य वृत्तियों से तुलना करने पर विदित होता है कि यह वृत्ति पूर्व निर्दिष्ट दशपादी वृत्ति के आधार पर लिखी वृत्ति हेमचन्द्र विरचित उणादिवृत्ति से पूर्ववर्ती है। इस अनुमान में निम्न प्रमाण है :–

दशपादी उणादि का एक सूत्र है – **धेट ईच च** (५।४३)। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए माणिक्यदेव ने धेना शब्द का व्युत्पादन इस सूत्र से माना है। परन्तु इस अज्ञातनामा वृत्तिकार ने धयन्ति तामिति धीना सरस्वती माता च निर्देश करके धीना शब्द का व्युत्पादन स्वीकार किया है। हेमचन्द्र ने स्वोपज्ञ उणादिवृत्ति में लिखा है– ईत्वं चेत्येके; धीना। सूत्र २६८, पृ. ४६।

उणादिवाङ्मय में सम्प्रति ज्ञात वृत्तिग्रन्थों में अकेली यही वृत्ति है, जिसमें धीना शब्द का साधुत्व दर्शाया है। अन्य सब वृत्तियों में धेना शब्द का ही निर्देश किया है। इसलिए हेमचन्द्र ने एके शब्द द्वारा इस वृति की ओर संकेत किया है, सेना अनुमान किया गया है। यदि यह अनुमान ठीक हो, तो इस वृत्ति का काल वि. सं. १२०० से पूर्व होगा।

३. विट्ठलार्य (वि. सं. १५२०)

विट्ठल ने अपने पितामह विरचित प्रक्रिया कौमुदी पर प्रसाद नाम की टीका लिखी है। इसी टीका में उणादि प्रकरण में दशपादी उणादि पाठ पर एक अतिसंक्षिप्त व्याख्या लिखी है।

परिचय – विट्ठल के पिता का नाम नृसिंह और पितामह का नाम रामचन्द्र था। विट्ठल ने व्याकरण शास्त्र का अध्ययन शेषकृष्ण के पुत्र रामेश्वर अपरनाम वीरेश्वर से किया था।

काल – विट्ठल कृत प्रसादटीका का वि. सं. १५३६ का एक हस्तलेख लन्दन के इण्डिया ऑफिस के संग्रहालय में सुरक्षित है। अतः विट्ठल ने यह टीका वि. सं. १५२०–१५३० के मध्य लिखी होगी।

इस प्रकार दशपादी उणादिपाठ के तीन ही वृत्ति ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध हैं। भट्टोजिदीक्षित द्वारा पञ्चपादी का आश्रयण कर लेने से उत्तरकाल में पञ्चपादी पाठ का ही पठन–पाठन अधिक होने लगा। इस कारण दशपादी पाठ और उसके वृत्ति ग्रन्थ प्रायः उत्सन्न से हो गये।

संदर्भ ग्रन्थ

१. अमरटीका सर्वस्व, भाग २, पृष्ठ २७७।

२. यह प्रमाण पं. मीमांसक जी ने एक त्रैमासिक जर्नल से लिया था, परन्तु उसका नाम और प्रकाशनकाल लिखना रह गया।

३. पुरुषोत्तमविरचित परिभाषावृत्ति आदि के उपोद्घात में पृष्ठ २१ पर दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य द्वारा उद्धृत।

४. पृष्ठ १२८, २३२, २३८, २१७ कलकत्ता संस्करण।

५. इति महामहोपाध्याय जाजलीत्यपरनामोय श्रीमदुज्ज्वलदत्त विरचितायामुणादिवृत्तौ प्रथमः पादः।

६. पुरुषोत्तमदेव भाषाकृति, भूमिका, पृष्ठ २० में दिनेशचन्द्र।

७. उणादिवृत्तौ तु सौत्रोऽयं धातुः।

८. सं. व्या. शा. का इतिहास भाग–१, 'भोजदेवीय सरस्वतीकण्ठाभरण' के प्रकरण में।

६. मद्रास प्रान्त में 'अग्रहार' शब्द 'ब्राह्मणवसति' शब्द के लिये प्रयुक्त होता है।

१०. अभिजन उस स्थान को कहते है, जहाँ पूर्वजों ने निवास किया हो। अभिजनो नाम यत्र पूर्वैरुषितम्। महा. ४।३।६०।।

११. श्वे. उ. वृत्ति, भूमिका, पृ. १०।

१२. श्वे. उ. वृत्ति, भूमिका, पृ. १०।

१३. श्वे. उ. वृत्ति, भूमिका, पृ. २२।

१४. कीथ कृत संस्कृत साहित्य का इतिहास, हिन्दी अनुवाद पृ. ४६०।।

१५. क्षीरस्वामी–क्षीरतरङ्गिणी ३।१०, देवराज यज्वा निघण्टुटीका पृ. १२६,स्कन्दऋग्भाष्य १।१।१।।

१६. निरुक्त ७।१५।।

१७. अंग्रेजी भूमिका भाग–१, पृष्ठ ३१।

१८. भूमिका भाग २, पृष्ठ २ में उद्धृत श्लोक।

१६. श्रीमत्स्वयंप्रकाशङ्घ्रिलब्धवेदान्ति सत्पदः विष्णुसहस्रनाम व्याख्या।

२०. इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्यश्रीमत्स्वयंप्रकाशानन्द सरस्वतीमुनिवर्यचूडामणि– विरचिते तत्त्वानुसंधानव्याख्याने अद्वैतचिन्ताकौस्तुभे चतुर्थः परिच्छेदः समाप्तः।

२१. सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ. ३१३–३१६।

२२. परिभाषावृत्ति व्याख्या के आरम्भ में। आडियार पुस्तकालय, व्याकरण विभाग सूचीपत्र, संख्या ५००।

२३. भोजो राजति भोसलान्वयमणिः श्रीशाह–पृथिवीपतिः।।६।। रामभद्रमखी तेन प्रेरितः करुणाब्धिना प्रबन्धमेतत् कुरुते प्रौढानां प्रीतिसिद्धये।।७।।

२४. जरत्कारूइवान्योन्यमाख्ययान्नयेत्सुकौ श्रीवेङ्कटेश्वरी मातापितरौ....।। पृ १।

२५. इति श्रीधरवंश्येन रचिते पेरुशास्त्रिणा। पृ. १२२।

२६. अवतीर्णं हरिं वन्दे वासुदेवाध्वरिच्छलात्। तच्छिष्योऽहम् .....। पृ. २।

२७. पृष्ठ १, श्लोक २।

२८. यथा– साम्प्रदायिकोऽयं पाठः। पृष्ठ १।। तैस्तैर्वृत्तिकारैः कानिचित् सूत्राणि अधिकानि व्याख्यातानि। सूत्रक्रमभेदश्च तत्र भूयान् परिदृश्यते, पाठ भेदाश्चभूयांसः, इति साम्प्रदायिक एवाश्रित. इत्यलं बहुना। पृष्ठ ८०।।

२६. यथा–पाद २ श्लोक २६३, २६४; पाद ३ श्लोक ७८, ७६; २०५, २०६, ३०६; ३२१, ३३७ तथा सूत्रपाठ;, पाद ४ श्लोक १८६–१६१; २०४, २८८ २८६, ३४३, ४३२।। इन सूत्रों की प्रौढमनोरमा भी देखिये।

३०. प्रौढमनोरमा में अनिर्णीत 'कृषेरादेश्च चः' सूत्रपाठ (पृष्ठ ११८) तत्त्वबोधिनी से लिया है।

३१. अलवर राजकीय ह. सं. सूची, पृष्ठ ४६।

३२. द्र. पं. मीमांसक द्वारा रचित 'महर्षि दयानन्द सरस्वती का भ्रातृवंश एवं स्वसृवंश'।

३३. उणादिकोष २।३२, ८२, १११ इत्यादि।

३४. उणादिकोष १।१ व्याख्या में।

३५. हेमहंसगणिविरचित न्यायसंग्रह, बृहद्वृत्तिसहित, पृ. ६३। स्कन्द निरुक्तटीका, भाग २ पृष्ठ ६२१। तैत्तिरीय आरण्यक भट्ट भास्करण भाष्य, भाग १, पृष्ठ २७६; इसी प्रकार अन्यत्र भी।

३६. उणादिकोष १।१३ व्याख्या में।

३७. जीवेः+रदानुक् = जीव्+रदानु = लोपो व्योर्वलि (६।१।६६) से वलोप = जीरदानु।

३८. पुरातन प्रबन्धकोष, पृष्ठ ३५।

३६. क्षीरतरङ्गिणी ४।१०१ में इसे संस्कृत का साधु शब्द माना है।

४०. यह पृ. सं. पं. मीमांसक जी द्वारा सम्पादित उणादिवृत्ति की है। अन्यत्र भी ऐसा समझना चाहिये।

अध्याय - ४
सूत्र - व्याख्या

अब पञ्चपादी उणादिवृत्ति के २२ सूत्रों की व्याख्या की जाती है।

कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् ।।१।१।।

उणादिशास्त्र में प्रकृतियां और प्रत्यय प्रायः करके संगृहीत किये गये हैं अर्थात् सभी संगृहीत नहीं हैं। सभी कार्यों (प्रकृति में होने वाले विकारों) का भी निर्देश नहीं किया गया है, क्योंकि सभी प्रकृतियों का निर्देश न किया जाने से, उनके कार्यों का निर्देश करना सम्भव नहीं है। अतः यह उणादिशास्त्र दिशामात्र दर्शाने के लिये है। इस प्रकार से जो लौकिक एवं वैदिक शब्द यहाँ नहीं भी संगृहीत हैं उनका भी व्युत्पादन कर लेना चाहिये, यह शास्त्रकार का इस ग्रन्थ को ग्रथित करने के पीछे उद्देश्य है। यही बात इस लघु शोध प्रबन्ध के विषय–प्रवेशनामक अध्याय में भी भिन्न प्रकार से उल्लिखित है। भाष्यकार ने भी ग्रन्थकार के उपरोक्त अभिप्राय को निम्न प्रकार से वर्णित किया है–

बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम्।
कार्यसशेषविधेश्च तदुक्तं नैगमरूढिभवं हि सुसाधु।।
नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्।।
संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।

कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु।।[१]

ये औणादिक प्रत्यय शब्दानुशासन से अन्यत्र पठित होते हुए भी 'उणादयो बहुलम्' इस एक सूत्र से ही शब्दानुशासन के अन्तर्गत स्वीकार किये जाते हैं, जिस प्रकार 'भूवादयो धातवः[२]' इस सूत्र से

सभी धातुओं का अङ्गीकार होता है। इस कारण से ही ये प्रत्यय शब्दानुशासन में स्थित प्रत्यय, आर्धधातुक आदि संज्ञाओं को एवं णित् आदि कार्य को प्राप्त करते हैं।

अब यहां रूढ, योगरूढ एवं यौगिक भेदों वाले शब्दों में औणादिक शब्द किस प्रकार के हैं, इस पर विचार किया जाता है :--

प्रायः सभी उणादि पर वृत्ति लिखने वाले विद्वान् 'उणादयो बहुलम्'[३] इस सूत्र पर 'पुवः संज्ञायम्'[४] इस सूत्र में 'संज्ञायाम्' पद की अनुवृत्ति लाकर उणादिप्रत्ययान्त शब्द संज्ञाशब्द हैं ऐसा सबके सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। यह ठीक प्रतीत नहीं होता – इस उणादिशास्त्र में ही सात बार संज्ञा पद[५] का निर्देश दिखाई देने के कारण से। यदि सभी औणादिक शब्द संज्ञाशब्द होते तो जहाँ–२ पर भी इस उणादिशास्त्र में संज्ञा ग्रहण किया गया है एवं शकुनि[६] आदि उपाधि ग्रहण किया गया है, वह अनर्थक हो जाता। इसी कारण स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी वृत्ति में कहा है **'अत्र संज्ञाग्रहणेन ज्ञायते उणादयः सामान्यार्थे यौगिका भवन्ति इति, संज्ञायास्तस्मिन्नर्थे रूढत्वात्। यदि च प्रकृतिप्रत्ययविभागेन औणादिकेभ्यो यौगिकार्थो न निस्सरेत्, तर्हि सर्व उणादिस्थाः शब्दाः संज्ञावाचकाः स्युः, पुनः संज्ञाग्रहणमनर्थः स्यात्।**[७]' इति।

उज्ज्वलदत्त तो उणादि में संज्ञाधिकार की अनुवृत्ति लाकर भी औणादिक शब्द प्रायः यौगिक हैं ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं। उनके अनुसार–**'संज्ञाधिकारे पुनः संज्ञाग्रहणं प्रायेणोणादीनां यौगिकत्वसूचनार्थम्'**[८]। व्युत्पत्तिसार के कर्ता कहते हैं– **'रूढियौगिकाभ्यामुशादौ शब्दाः सिध्यन्ति। यौगिके तु धात्वर्थं प्रति कारकान्वयो भवत्येव।'**[९]

जो भाष्यकार का 'उणादि अव्युत्पन्न प्रातिपदिक हैं'[१०] यह अनेक बार कहा गया वचन है वह भी उणादि प्रत्ययान्त शब्दों को रूढ सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं है। **'पक्षान्तरैरपि परिहाराः**

भवन्ति[११]' इस न्याय का आश्रय लेकर पक्षान्तर का आश्रय कर दिखाए गए दोष के शोधन के लिये वहाँ वहाँ पर इष्ट है, **'यानि तर्ह्यग्रहणानि प्रातिपदिकानि? एतेषामपि स्वरवर्णानुपूर्वीज्ञानार्थ उपदेशः कर्त्तव्यः'**[१२] इस पस्पशह्निकस्थ स्ववचन के विरोध से भी ज्ञात होता है कि उणादि व्युत्पन्न प्रातिपादिक हैं –

उपरोक्त से स्पष्ट है कि औणादिक शब्दों का प्रायः करके यौगिक ही मुख्यार्थ है, उस यौगिक अर्थ के आधार पर ही अन्य कुछ विशेष अर्थ है। इस प्रकार जहां पर संज्ञा अथवा उपाधि का ग्रहण किया जा रहा है। वहाँ पर भी बहुलग्रहण से यौगिक अर्थ का आश्रय कर यथासम्भव अन्य अर्थ भी समझना चाहिये। इसी कारण से पक्षी[१३] को कहने के लिये उक्त पतङ्ग शब्द अश्व[१४] और सूर्य- अर्थ को कहने के लिये भी प्रयुक्त होता है, अन्न और उदक[६] अर्थ को कहने के लिये उक्त पाथशब्द अन्तरिक्ष[१५] अर्थ को कहने के लिये भी प्रयुक्त होता है, कर्म कारक[१६] में व्युत्पन्न अप्नशब्द निघण्टु[१७] में अपत्यनामों में पढ़ा गया है।

इसके अतिरिक्त औणादिक शब्दों का सूत्रकारों द्वारा प्रदर्शित प्रकृति प्रत्ययविभाग भी मार्गदर्शन मात्र के लिये है, निश्चय करने के लिये नहीं। इसी कारण दर्वि[१८], पलित[१९], तण्डुल[२०] आदि शब्द उणादिशास्त्र में ही अनेक बार व्युत्पादित हैं। 'अर्थनित्यः परीक्षेत'[२१] इस न्याय से जिस प्रकार भी वह अर्थ कहा जाता है, उस–२ प्रकार व्युत्पादन करना दोषयुक्त नहीं है, यह शास्त्र में सिद्धान्त है। शब्द के साधुत्व के अन्वाख्यान में प्रवृत्त व्याकरण शास्त्र के प्रवक्ता शब्दसाधुत्वमात्र के प्रदर्शन के विचार से युक्त किसी एक ही व्युत्पत्ति का प्रदर्शन कर अपने कर्तव्य को पूर्ण समझते हुए अनेक प्रकार से शब्दों का व्युत्पादन नहीं करते। निरुक्ताचार्य तो अर्थ के अन्वाख्यान में प्रवृत्त होने के कारण जिस–२ प्रकार भी वह शब्द पृथक्–पृथक् अर्थों को कहता है, उस–२ प्रकारसे अनेक प्रकार से व्युत्पादन करते हैं, इसलिये नैरुक्तों एवं वैयाकरणों का परस्पर विरोध नहीं है। इस प्रकार से 'अर्थनिश्चय'

के अभाव में विविध प्रकार की निरुक्त में व्युत्पत्तियां की जाती है यह पाश्चात्यों का मत भी खण्डित हो जाता है, ऐसा जानना चाहिये। यही तथ्य नैरुक्तिक आचार्यों ने भी इस प्रकार प्रतिपादित किया है[२२]–

'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कात्स्न्र्यं स्वार्थसाधकं च'।[२३]

आचार्य भर्तृहरि ने भी कहा है –

अन्वाख्यानानि भिद्यन्ते शब्दव्युत्पत्तिकर्मसु।
बहूनां संभवेऽर्थानां निमित्तं किञ्चिदिष्यते।।

निपातन अथवा सूत्र से किये जानेवाले शब्दव्युत्पत्ति कर्म में बहुत प्रकार से भिन्न अन्वाख्यान दृष्टिगत होते हैं। अनेक शक्तियों से युक्त पद में कोई भी निमित्त रूप में आश्रीयमाण शक्ति साधुत्व अन्वाख्यान में स्वीकार कर ली जाती हैं। जैसे – 'वृञ्लुठितनिताडिभ्य उलच् तण्डश्च'[२४] शब्दव्युत्पत्ति में इन धातुओं से अन्य धातुओं से भी उलच् प्रत्यय का विधान किया जा सकता है एवं उन धातुओं के स्थान पर तण्ड आदेश किया जा सकता है।[२५]

कैश्चिन्निर्वचनं भिन्नं गिरतेर्गर्जतेर्गमेः।
गवतेर्गदतेर्वापि गौरित्यत्रानुदर्शितम्।।

जिस प्रकार 'गच्छति' यह क्रिया भिन्न अर्थ वाली अनेक धातुओं से, जो एक ही वस्तु में समवाय सम्बन्ध से रहती हैं, परन्तु 'गच्छति' आदि क्रियाओं से अत्यन्त भिन्न हैं, गौ शब्द की व्युत्पत्ति में निमित्त के रूप में आश्रित होती है,उसी प्रकार गिरति, गर्जति, गदति इत्यादि सामान्य शब्द (गौ) से जुड़ी हुई क्रियाएं भी पृथक्–पृथक् आचार्यों के द्वारा शब्द के व्युत्पादन के लिये ग्रहण की जाती हैं। जिस प्रकार आदित्य इस एक वाक्य में तद्धितार्थ वाक्य में उस आदित्य शब्द के भिन्न–भिन्न निर्वचन किये जाते हैं।[२६]

अतः इस उपरोक्त कारण से वेद, ब्राह्मण एवं निरुक्तादियों

में उपलभ्यमान अन्य व्युत्पत्तियां भी यहाँ पर यथासम्भव दिखाई जाएंगी।

अब विषय का आरम्भ किया जाता है – 'करोति' यह धातु, कारक एवं कालों का उपलक्षण है। धातुओं में 'कृञ् हिंसायाम्' इस क्र्यादिगण में पठित का ग्रहण होता है, साथ ही 'कृञ् करणे' इस भ्वादिगण में पठित का भी ग्रहण हो जाता है। विशेष का अभाव होने से अर्थात् 'कृ' मात्र का सूत्र में पाठ करने से। हेमचन्द्र ने भी उपर्युक्त के पक्ष में कहा है **'निरनुबन्धग्रहणे सामान्यग्रहणम्।'**[२७]

यदि कोई ऐसा कहे कि भ्वादिगण में कृञ् धातु दिखाई नहीं देती है तो उसका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि स्वामी दयानन्द सरस्वती एवं अन्य पूर्ववर्ती वैयाकरणों ने इस धातु का भ्वादिगण में पठित होना स्वीकार किया है। 'अवरुद्रमदीमहि'[२८] इस मन्त्र के भाष्य में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कहा भी है– **''डुकृञ् करणे इत्यस्य भ्वादिगणान्तर्गतपाठात् शब्विकरणोऽत्र गृह्यते, तनादिभिः सह पाठादुविकरणोऽपि। 'कः करत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः'[२९] 'नित्यं करोतेः'[३०] एताभ्यां द्वाभ्यां ज्ञापकाभ्यामुभयगणप्रयोगः कृञ् गृह्यते।**[३१] इसके अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों ने भी इसी प्रकार कहा है – दशपादीवृत्तिकार के अनुसार 'करोति कृणोति करति वा कारुः[३२] उणादिवृत्ति में हेमचन्द्र कहते हैं 'करोति कृणोति करति वा कारुः'[३३], क्षीरस्वामी के अनुसार[३४] 'कृञ् करणे' यह भ्वादिगण में पठित है, पुरुषकार में लीलाशुकमुनि[३५] ने भी इसी प्रकार कहा है। अन्यत्र भी इसी प्रकार देखा जा सकता है।

जो 'उपो षुश्रृणुहि'[३६] इत्यादि ऋचा के व्याख्यान में सायण ने कहा है **''कः करत्करति. इत्यत्र यदाहतुः न्यासकारहरदत्तौ व्यत्ययेन शबिति, तस्मादस्य कृञो धातोर्भूवादौ पाठो नास्तीति गम्यते। किं च यद्ययं पठ्येत करत् इत्यादिरूपसिद्ध्यर्थं 'कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि'[३७]' इति करोतेरङ्विधान- मनर्थकं स्यात्, अस्मात् लङि शपि रूपस्य सिद्धिः, लङ्लोरर्थ भेदात् लुङि एतद्रूपसिद्धये कर्त्तव्यमङ्विधानमिति**

चेन्न 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः'[३८] इति लुङादीनामेकत्र विधानेन अर्थभेदाभावात् इत्यनेन प्रकारेणारमाभिर्धातुवृत्तौ[३९] अयं धातुर्निराकृतः[४०] वह बिना विचारपूर्वक लिखा गया ही समझना चाहिये, पूर्व धातुवृत्तिकारों से तथा स्वयं सायण द्वारा अन्यत्र उक्त वचन से विरोध होने के कारण जैसा कि ऋग्भाष्य में (१।२३।६) 'कृञ् करणे भौवादिकः' ऐसा स्वयं सायण ने कहा है। और जो यह सायण ने कृञ् धातु के भ्वादिगण का न होने में हेतु दिया है, वह हेतु भी उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि कृञ् धातु का भ्वादिगण में पाठ करने से लोकभाषा में भी 'करति' आदि प्रयोग साधु हो जायेगा और छन्द में भी विकरण का व्यत्यय नहीं करना होगा। यदि कोई ऐसा कहे कि भाषा में 'करति' आदि उपलब्ध न होने से उसका प्रयोग ही नहीं है, तो उसका यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि अन्यत्र किसी देश अथवा स्थानपर उसका प्रयोग सम्भव है। भिन्न देश में भिन्नप्रकार के प्रयोग देखे भी जाते हैं। जिस प्रकार 'शव' धातु के तिङ्ङन्त का प्रयोग कम्बोज देशवासी ही करते हैं, 'हम्म' धातु का सुराष्ट्रवासी, 'रहि' धातु का प्राच्य एवं मगध देशवासी[४१] ही प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं। आर्यों में इन धातुओं के तिङन्त रूपों का प्रयोग न दिखाई देने से इनका असाधुत्व स्वीकार नहीं किया जाता, इसी प्रकार 'करति' आदि का भी समझना चाहिये। वैयाकरणों के द्वारा तो सबका साधुत्व कहा ही जाना चाहिये। प्राकृत भाषा में प्रयोग किये जाने वाले कृञ् धातु के प्रयोग भी 'कृञ्' के भौवादिक होने में प्रमाण है।[४२] इसके साथ ही शब्विकरण वाली कृञ् धातु के वैदिकवाङ्मय में एवं व्याकरण से सम्बन्धित प्राचीन ग्रन्थों में अनेक प्रयोग दिखाई देते हैं। कृञ धातु को भौवादिक स्वीकार करने से अङ्विधान अनर्थक हो जायेगा।[४३] ऐसा जो सायण का मन्तव्य है वह भी ठीक नहीं है। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः'[४४] इस सूत्र में धातुसम्बन्ध की अनुवृत्ति होने से अधातुसम्बन्ध में भी 'करत्' आदि प्रयोगों की सिद्धि के लिये अङ्विधान सार्थक ही है। अङ् एवं शप् करने पर स्वर में भी भेद आ जाता है। अट् के अभाव

में (करत् इस प्रयोग में) अङ् करने पर प्रत्ययस्वर से अन्दोदात्त होगा एवं शप् करने पर धातुस्वर से आद्युदात्त होगा। वेद में आद्युदात्त 'करत्' आदि प्रयोग अनेकशः उपलब्ध होते हैं, अङ् होने पर अन्तोदात्त तो उपलब्ध नहीं होता। अतः, यदि किसी को अनावश्यक ही सिद्ध करना है तो अङ् को ही करना चाहिये, कृञ् के भौवादिक होने को अनावश्यक सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। तथ्य तो यह है कि सूत्रकार के वचनसामर्थ्य से अन्तोदात्त प्रयोग भी शाखान्तरों में सम्भव हैं। क्योंकि कहा भी गया है 'सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्'। और भी 'कृमदृरुहिभ्यश्छन्दसि' इस अङ्विधायक सूत्र में निर्दिष्ट धातुओं में रुह् धातु में ही अङ्स्वर दिखाई देता है जैसे – रुहाव (ऋ. ७।८८।३); रुहतम् (ऋ. ८।२२।६), यहाँ अदुपदेश होने के कारण तिङ् को निघात हुआ है। कृञ् का तनादिगण में पाठ ही अनार्ष प्रतीत होता है। तभी 'तनादिकृञ्भ्य उः' इस सूत्र में पृथक् 'कृञ्' धातु का ग्रहण करना सार्थक है। भाष्यकार ने पृथक् कृञ् ग्रहण का प्रत्याख्यान किया है, इससे ज्ञात होता है कि तनादिगण में कृञ् का प्रक्षेप पतञ्जलि से पुराना है।

कारकों का उपलक्षण – 'ताभ्यामन्यत्रोणादयः'[४५] इस नियम से सम्प्रदान और अपादान से भिन्न अन्य कारकों में सामान्य रूप से विधान करने से यथासम्भव अन्य कारकों में भी वृत्ति जाननी चाहिये, तात्पर्य यह है कर्त्ता मात्र में ही उणादि प्रत्ययों की वृत्ति नहीं समझनी चाहिये।

कालों का उपलक्षण – 'उणादयो बहुलम्'[४६] यहाँ पर वर्तमान की अनुवृत्ति होते हुए भी 'भूतेऽपि दृश्यन्ते' 'भविष्यति गम्यादयः'[४७] इन दोनों नियमों से अथवा 'बहुलम्' पद का प्रयोग करने से यथासम्भव अन्य कालों में भी उणादि शब्दों का व्युत्पादन करना चाहिये। जिस प्रकार से यौगिक 'पाचक' आदि शब्द व्युत्पन्न किये जाते हैं :– **पचतीति पाचकः, अपाक्षीदिति पाचकः, पक्ष्यतीति पाचकः**[४८], उसी

प्रकार **करोति, अकार्षीत् करिष्यतीति कारुः** ऐसा भी सभी कालों में विग्रह किया जाता है।

कर्त्ता – यह यौगिक प्रक्रिया से प्राप्त अर्थ है। इस अर्थ में वेद एवं लोक में कारु शब्द का प्रयोग दिखाई देता है। वेद में 'कारुरहं ततो भिषक्[४९]।' इसकी व्याख्या में यास्काचार्य लिखते हैं – **'कारुरहमस्मि कर्त्ता स्तोमानाम्'[५०]।** लोक में भी – 'राघवस्य तथा कार्यं कारुर्वानरपुङ्गव[५१]' इति भट्टिः। मेदिनीकार के अनुसार – 'कारुर्विश्वकर्मणि ना त्रिषु कारकशिल्पिनोः'[५२]। धरणि के अनुसार 'कारुः शिल्पिनि कारके।'[५३]

शिल्पी – यह योगरूढ अर्थ है। महाभाष्य में प्रयुक्त भी है – **'तत्रावरतः पञ्चकारुकी भवति।[५४]'** कारु ही कारुक कहा जायेगा यहां स्वार्थ में कन् प्रत्यय है, फिर 'द्विगोः' इस सूत्र से ङीप् हुआ है। भाष्यविवरण में नागेशभट्ट लिखता है – 'कुलालकर्मारवर्धकिनापितरजकाः पञ्चकारुकी'[५५]

वेति – यह सन्देह अर्थ में प्रयुक्त हुआ निपात नहीं है अपितु समुच्चय अर्थ में प्रयुक्त है। कहा भी गया है – **'अथापि समुच्चयार्थे भवति वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा'।[५६]** यादवप्रकाश में भी इसी प्रकार कहा गया है –

'निषेधे पृथग्भावे वा विकल्पोपमानयोः।
समुच्चये चैव पादे च वाक्यारम्भप्रसिद्धयोः।।'[५७]

स्वामी दयानन्द की वृत्ति में सर्वत्र 'वा' शब्द को व्युत्पत्ति द्वारा प्रदर्शित यौगिक अर्थ का अथवा अनुक्त योगरूढि अर्थ के समुच्चय के लिये जानना चाहिये। उससे यहाँ निघण्टु में पठित स्तोत्रा[५८] नाम का भी समुच्चय जाना चाहिये। हेमचन्द्र[५९] के अनुसार इन्द्र के लिये भी कारु शब्द का प्रयोग होता है। इस प्रकार से उपर्युक्त उणादिवृत्ति में निर्दिष्ट अर्थ दिशानिर्देश मात्र ही हैं ऐसा ध्यान रखना चाहिये।

कारु शब्द प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। यौगिक है एवं तीनों लिगों में प्रयुक्त होता है, इस प्रकार स्त्रीलिंग की विवक्षा में 'अङुतः'[६०] इस सूत्र से ऊङ् होकर 'कारूः' यह प्रयोग भी उपपन्न होता है।

वातिगच्छति जानाति वेति - वा गतिगन्धनयोः। गति के तीन अर्थ हैं गमन, ज्ञान और प्रापण। गन्धन हिंसा एवं चुगलखोरी को कहते हैं। वृत्तिकार के अनुसार 'गन्धनमपकारप्रयुक्तं हिंसनात्मकं सूचनम्।[६१]' यदि कोई यह कहे कि गति का ज्ञान अर्थ अप्रसिद्ध है तो उसका यह कहना ठीक नहीं है, कोई अर्थ अप्रसिद्ध होने मात्र से छोड़ा नहीं कहा जा सकता, **नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधस्तु स भवति।**[६२]

यहाँ गत्यर्थक धातुओं के ज्ञानार्थ में प्रयोग के प्रमाण उद्धृत किये जा रहे हैं – 'विचरन्ति विजानन्ति'[६३] इस यास्कोक्त के व्याख्यान में 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था'[६४] ऐसा स्कन्दस्वामी ने लिखा है, तैत्तिरीयारण्यक में भट्टभास्कर कहते हैं – गत्यर्था बुद्धयर्थाः[६५]'। अस्यवामीय व्याख्यान में आत्मानन्द कहते हैं 'गत्यर्थाः ज्ञानार्थाः[६६]।' इस प्रकार अन्यों का भी कथन है। स्वामी दयानन्द ने यद्यपि यहाँ प्राप्त्यर्थ में एवं गन्धन अर्थ में व्युत्पत्ति नहीं दर्शाई है, परन्तु 'वा' शब्द के समुच्चयार्थक होने के कारण अन्य व्युत्पत्तियों को भी यहाँ संगृहीत समझना चाहिये। सूत्र की व्याख्या में अनुक्त व्युत्पत्तियों को आचार्य द्वारा कृत वेदभाष्य से संगृहीत करते हैं। प्राप्त्यर्थ में – **'वायवे वाति प्रापयति योगबलेन व्यवहारान् इति वायु र्योगविचारस्तस्मै।**[६७]' हिंसन में – **'वायो! दुष्टानां हिंसक!**[६८]' सूचन में –**'वायो! वाति जानाति सूचयति सदसद् पदार्थानिति वायुस्तत्सम्बुद्धौ'**[६९] हेमचन्द्र[७०] ओवै शोषणे इस धातु से भी 'वायुः' पद को सिद्ध करते हैं।

वायुः – यद्यपि स्वामी दयानन्द ने पूर्व 'कारुः' शब्द के समान यौगिक अर्थ पृथक् नहीं दर्शाया है फिर भी व्युत्पत्ति से यौगिक अर्थ का ज्ञान सरल है। व्युत्पत्ति के आधार पर वायु पद के गन्ता (जाने

वाला), ज्ञाता (जानने वाला), प्राप्ता (प्राप्त करने वाला), हन्ता (हिंसक), अर्थ स्वतः उक्त हो जाते है। ऋग्व्याख्यान में सायण ने 'अस्या जरासः'[७१] ऋचा की व्याख्या में कहा भी है – 'वायवो न सोमाः गन्तारः सोमा इव।'[७२] भट्टभास्कर[७३] एवं महीधर[७४] ने 'इषे त्वोर्जेत्वा'[७५] इसकी व्याख्या में कहा है 'वायवो गन्तारः।' इसी प्रकार अन्यत्र स्थलों पर जहाँ यौगिक अर्थ को नहीं कहा गया है, वहाँ व्युत्पत्ति से उसकी ऊहा करनी चाहिये। व्युत्पत्ति के द्वारा यौगिकार्थ का ज्ञान सुकर होने के कारण ही आगे के सूत्रों में यौगिक अर्थ को आचार्य द्वारा नहीं कहा गया है।

पवन – लोक में यह शब्द प्रसिद्ध है। यहाँ पर पवन शब्द से विशेष प्रकार के पवन को कहने वाले प्राण आदि भी जानने चाहिये। जैसा कि उक्त भी है 'वायुर्वै प्राणः'।[७६]

परमेश्वर – 'वा' धातु ज्ञानार्थक भी है, यह पहले कहा गया है, उसके अनुसार ही सर्वज्ञ होने से परमेश्वर की भी वायु संज्ञा है। इसी बात को यह वेदमन्त्र भी प्रकट कर रहा है –

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।।[७७]

यहाँ अग्नि आदि सभी समानाधिकरण पद हैं। यौगिक प्रक्रिया के बिना इनका सामानाधिकरण्य किसी प्रकार भी नहीं हो सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि ये सब यौगिक शब्द हैं। 'आकाशस्तल्लिङ्गात्[७८]' इस व्यास के आकाशाधिकरण न्याय से वायु, अग्नि, इन्द्र आदि पद मुख्य वृत्ति से भगवान् परमेश्वर को ही कहते हैं।

वा – यह पद पूर्ववत् समुच्चय के अर्थ में प्रयुक्त है। इससे यहाँ पर अनुक्त भी वायु के अर्थों का संग्रह करना चाहिये। इस सम्बन्ध में वैदिक वाङ्मय में निर्दिष्ट अर्थों का दिशानिर्देश मात्र किया जाता

है– ऋग्वेद में **'इन्द्रेण वायुना'**[७९]; शतपथ में **'यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः;**[८०]**'** गोपथब्राह्मण में **'वायुरध्वर्युः'**[८१] और **'वायुरेव सविता'**[८२]; ऐतरेय ब्राह्मण में **'वायुर्वाव पुरोहितः'**[८३]; **'अयं वै यज्ञो योऽयं वायुः पवते'**[८४]; **'वायुर्ह्येव प्रजापतिः**[८५]**'**, और **'तदुक्तं ऋषिणा-पवमानः प्रजापतिरिति'**; तैत्तिरीय–ब्राह्मण में **'वायुर्वै स्तोता'**[८६]; छान्दोग्योपनिषद् में **'वायुर्वत्सः'**[८७]; दुर्गाचार्य द्वारा उद्धृत ब्राह्मणों में **'वायुः ज्योतिः, वायुना ज्योतिषा इति ह विज्ञायते**[८८]**'** और **'वायुरादित्यः**[८९]**'** इस प्रकार अन्य भी बहुत से अर्थ देखे जा सकते हैं।

अब अन्य निर्वचन प्रस्तुत किये जाते हैं – 'अज' धातु से बहुल से 'यजिमनिशुन्धि.'[९०] इत्यादि से युच् प्रत्यय करनेपर 'वा' आदेश करने पर वायु शब्द बनता है। जैसा कि भाष्यकार ने कहा भी है '(वा यौ)' नेयं विभाषा, किं तर्हि? आदेशो विधीयते, वा इत्ययमादेशो भवति अजेर्यौ परतः, वायुरिति।[९१] इण् धातु से उण् प्रत्यय करने पर तथा ध ातु को वुट् आगम करने पर वायुपद सिद्ध हो जाता है। यास्क ने कहा भी है -- 'एतेरिति स्थौलाष्ठीविः अनर्थको वकारः'[९२]। विचिर् धातु से उण् प्रत्यय कर लेने पर, प्रत्यय के सन्नियोग से चकार का लोप कर लेने पर 'अचो ञ्णि'[९३] से वृद्धि एवं आयादेश करने पर 'वायु' बन जाता है। 'न धातुलोप आर्धधातुके'[९४] इस सूत्र से वृद्धि का प्रतिषेध नहीं होता, चकारलोप के आर्धधातुकनिमित्तक न होने के कारण से। शतपथब्राह्मण में कहा भी गया है– 'अयं वै वायुः योऽयं पवते, एष वा इदं सर्वं विविनक्ति यदिदं किं च विविच्यते'[९५]। इसी प्रकार अन्य व्युत्पत्तियां भी की जा सकती है।

पातीति – धातु एवं कारक का निर्देश अप्रधान है। इस कारण 'पा पाने' इस धातु से भी उण् होता है। 'तमुक्षमाणम्'[९६] इस ऋचा के व्याख्यान में 'पायुं यः पिबति तम्'[९७] ऐसा आचार्य के द्वारा कहा गया है। 'लुगविकरणा– लुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव इति परिभाषया पिबतेरेव ग्रहणम्'[९८] यह जो श्वेतवनवासी द्वारा कहा गया

है, ठीक नहीं है, बहुलग्रहण से सभी विधियों का व्यभिचार होने से[९९] एवं अन्य वृत्तिकारों से विरोध होने से।

नारायण लिखते हैं – **देहरक्षकनिर्हारकृतत्वात् देहं पाति इति पायुः गुदम्**[१००]**।** **सुबोधिनी**[१०२] एवं **व्युत्पत्तिसारकार**[१०३] के अनुसार **'पाति रक्षति'**। इससे हेमचन्द्र द्वारा कहा गया **'पातिपादत्योस्त्वर्थासंगतेर्न ग्रहणम्'**[१०४] यह भी खण्डित समझना चाहिये। इसी प्रकार कारकान्तर में भी वृत्ति देखी जाती है– स्वामी दयानन्द **'वाचं ते शुन्धामि'**[१०५] इस मन्त्र के भाष्य में लिखते हैं **'पायुं पात्यनेन तं गुह्येन्द्रियम्'**[१०६]।

रक्षक – यह प्रकृति एवं प्रत्यय से प्राप्त यौगिक अर्थ है। अत एव **सुबोधिनी**[१०७] एवं **व्युत्पत्तिसार**[१०८] के कर्त्ता लिखते हैं **'पाति रक्षतीति विग्रहे रक्षकोऽपि पायुः' 'गुदेन्द्रियम्'** यह योगरूढ अर्थ है।

वेति – समुच्चयार्थक है। इससे 'अदब्धेभिः'[१०९] इस यजुर्वेद के मन्त्र के व्याख्यान में **'वायुभिर्विविधैः रक्षणोपायैः'**[११०] यह उक्त अर्थ भी संगृहीत हो जाता है।

जयति अभिभवतीति – **'जि ज्रि अभिभवे'** इस धातु से यह रूप सिद्ध हुआ है। माधव के अनुसार **'अभिभवो न्यूनीकरणम्'**[१११] दीक्षित के अनुसार **'न्यूनीकरणं न्यूनीभवनञ्च'**[११२]**।** मैत्रेयरक्षित के अनुसार **'जयविशेषोऽभिभवः'**[११३]**।**

माधव[११४] एवं दीक्षित[११५] के अनुसार 'जयति रोगान् इति–**जि जये इत्यस्य; जय उत्कर्षप्राप्तिरित्यकर्मकोऽयम्**। देव[११६] का भी इसी प्रकार का कथन है। आचार्य तो दोनों ही जि धातुओं को सकर्मक मानते हैं। श्वेतवनवासी ने **'जि जये जि अभिभवे उभयोरपि ग्रहणम्'**[११७] ऐसा कहकर **'जयतीति जायुः औषधम्'**[११८] ऐसा कहा है। इससे उसके मत में दोनों धातुएं सकर्मक हैं ऐसा प्रतीत होता है। दशपादीवृत्तिकार, 'जि जये भौ., जयत्यनेन रोगान्'[११९] इस प्रकार लिखकर स्पष्ट रूप से 'जिधातु का' सकर्मकत्व दर्शाते हैं। इससे उसके मत में सकर्मक

है ही। धातुप्रदीपकार मैत्रेयरक्षित भी **'जयविशेषो- ऽभिभव' इति विशेषार्थोऽयं पुनर्जयतिः पठ्यते।**[१२०] ऐसा वर्तमान होगा तब **'धातोरर्थान्तरे वृत्तेः'**[१२१] इस न्याय से अकर्मक होगी। दशापादीवृत्ति में **'जयत्यनेन रोगान्'**[१२२] इस प्रकार के विग्रह से करण में निष्पादित है।

वेति – इससे अनुक्त अर्थों का भी संग्रह कर लेना चाहिये।

मिनोतीति – कारकनिर्देश के उपलक्षण होने के कारण अन्य कारकों में भी व्युत्पत्ति करनी चाहिये। जिस प्रकार देवराज ने **'मीयते क्षिप्यते प्रेर्यते उच्चार्यते इति मायुः'**[१२३] इस प्रकार कर्म में व्युत्पत्ति की है। दशपादी वृत्तिकार ने **'मीयतेऽनेनेति मायुः मानम्'**[१२४] इस प्रकार की करण में व्युत्पत्ति की है।

मायुरिति – **'मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च'**[१२५] इससे आत्व, **'आतोयुक् चिण्कृतोः'**[१२६] इससे युक्। यहाँ व्युत्पत्ति से यौगिक अर्थ की ऊहा करनी चाहिये।

ऊष्माणमिति – यह अध्याहृत पद है। अर्थ का अनुसरण करने वाले अन्य भी अध्याहार किये जा सकते हैं, ऐसा इस पद का अध्याहार करने से आचार्य द्योतित कर रहे हैं। जिस प्रकार नारायण ने **'मिनोति प्रक्षिपति अङ्गे पीडाम्'**[१२७] ऐसा विग्रह किया है।

पित्तमिति – यह उपलक्षण है। अमरकोष के अनुसार **'मायुः पित्तं कफं श्लेश्मा**[१२८] **च'**; वैदिकनिघण्टु के अनुसार वाणी का नाम[१२९] है। **'मीयतेऽनेनेति'** इस प्रकार की व्युत्पत्ति से **'मायुः मानम्'**[१३०] ऐसा दशपादीवृत्तिकार ने लिखा है।

गोमायुः शृगाल इति – आचार्य द्वारा **'सोमाय कुलङ्ग.'**[१३१] इस मन्त्र में केवल मायु शब्द भी शृगालार्थक वर्णित किया है। **'गोमायुरेको अजमायुरेकः'**[१३२] इस मन्त्र में वर्णन से गोमायु एवं अजमायु विशेष प्रकार के मेंढक हैं। उपरोक्त मन्त्र के व्याख्यान में सायण ने कहा है – **'गोमायुः गोरिव मायुः शब्दो यस्य; अजमायु अजस्य मायुरिव मायुर्यस्या।**[१३३]'

अन्य निर्वचन – 'मिमाति मायुं ध्वसनावधिश्रिता'[१३४] इस मन्त्र में किये गये वर्णन से माङ् माने शब्दे च इस जुहोत्यादिगण की धातु से भी मायु पद का निर्वचन समझना चाहिये। 'मिमाति' यहाँ पर छान्दस परस्मै पद है। मीयते शब्द्यते इति मायुः। यास्क ने भी कहा है – **'मिमाति मायुं शब्दं करोति'**[१३५]**।**

'भृमृशीङ्तृचरि'[१३६] इस सूत्र से उप्रत्यय करने पर 'मयुः' यह भी सिद्ध हो जाता है। हेमचन्द्र ने तो **'मिवहिचरिचटिभ्यो वा'**[१३७] ऐसा कहकर यहाँ प्रकृत उप्रत्यय के णित्त्व का विकल्प कहकर मयुमायू ये दोनों शब्द सिद्ध किये हैं

स्वद्यत इति – बाहुलक से कर्ता, करण एवं भाव में इसकी व्युत्पत्ति जाननी चाहिये। **'स्वदत इति स्वादुः'** ऐसी व्युत्पत्ति नारायण[१३८] एवं श्वेतवनवासी[१३९] ने दिखाई है। **'स्वद्यतेऽनेनेति स्वादुः रुच्यम्, करणम्। स्वदनं वा स्वादुः, भावः**[१४०]**'** इस प्रकार की व्युत्पत्ति दशपादीवृत्तिकार ने दर्शाई है। **'भोक्तुम् अभीप्स्यते'** यह अध्याहार है। इससे स्वदते, स्वद्यते, स्वदनम् यह यौगिक अर्थ समझना चाहिये। भोज्यमिति – यह अन्न का विशेषण है। 'वा' शब्द यौगिक अर्थ के समुच्चय के लिये है।

साध्नोतीति – बहुल वचन से अधिकरण में भी होता है। जैसा कि आचार्यों ने कहा भी है – 'साध्नुवन्ति धर्मं यस्मिन् सः'[१४१]। साधुरिति – स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में 'वोतोगुणवचनात्'[१४२] इस सूत्र से ङीष् प्रत्यय, साध्वी अर्थात् धर्माचरण के स्वभाव वाली स्त्री। हेमचन्द्र[१४३]के अनुसार 'साधि' इस णिजन्त धातु से भी 'साधुः' शब्द निष्पन्न होता है। 'बहुलमन्यत्रापि संज्ञा– छन्दसो'[१४४] इससे णि का लुक् होगा।

अश्नुत इति – कर्ता में निर्देश उपलक्षण मात्र के लिये है, अतः भाव में भी सिद्ध करना चाहिये। जैसा कि 'एमाशुमाशवे'[१४५] इस ऋचा के व्याख्यान में 'आशवे व्याप्तये'[१४६] ऐसा आचार्य द्वारा व्याख्यान किया गया है। हेमचन्द्र के अनुसार 'अशनं वाशु'।[१४७]

आशु क्षिप्रमिति – निघण्टु के[१४८] अनुसार आशु क्षिप्र का पर्याय है। इसी के आकार का लोप कर देने से 'शु' यह भी क्षिप्र[१४९] का पर्याय होता है। यास्क द्वारा कहा भी गया है –

'आशु इति च शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः'[१५०]। 'आशु (निपातः) आशुः इति चोभयं क्षिप्रनाम इति ....।'[१५१]

'आशुः' इसके यौगिक अर्थ में सभी तीव्रतापूर्वक करने वाले कहे जाते हैं। यास्क द्वारा कहा भी गया है – 'आशवः क्षिप्रकारिणः'[१५२]। **अश्व इति** वैदिकनिघण्टु में 'आशुः' यह शब्द अश्व के नामों में पठित है[१५३]। **वेति** –अन्य शीघ्र जाने वालों रथ विमान आदि के संग्रह के लिये हैं। इसी कारण से आचार्य के द्वारा सामान्य रूप से **'प्र यात शीभमाशुभिः[१५४]'** इस ऋचा की व्याख्या में **'आशुभिः शीघ्रं गमनागमनकारकैर्विमानादियानैः'[१५५]**। श्वेतवनवासी के अनुसार **'आशुरादित्यः'[१५६]।**

अश्यत इति – समान रूप होने के कारण 'अश भोजने' इस तौदादिक धातु का भी ग्रहण यहाँ किया जाता है। 'आशुः व्रीहिः पाटलः स्यात्'[१५७] ऐसा अमरकोष में कहा गया है।

हेमचन्द्र के अनुसार 'आशुः सूर्यो व्रीहिश्च'[१५८]।

बहुलवचनादिति – 'उणादयो बहुलम्'[१५९] यहाँ पर निर्दिष्ट बहुल पद सारे उणादि शास्त्र से सम्बद्ध है। बहुत सारे अर्थों अर्थात् प्रयोजनों को जो लाता है वही बहुल कहा जाता है। बहुल एवं बाहुलक समानार्थक है। इसी प्रकार प्राचीन आचार्यों द्वारा बहुल के प्रयोजनों के विषय में कहा गया है–

> **क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृतिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव**
> **विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति।।[१६०]**

यहाँ उणादिशास्त्र में थोड़ी ही प्रकृतियों का समुच्चय किया

गया है, ऐसा पहले कहा जा चुका है 'प्रत्ययं दृष्ट्वा प्रकृतिरूहितव्या[१६१]' इस भाष्य वचन से अन्य प्रकृतियों से भी उण् प्रत्यय होता है। उसी को दर्शाते हैं–

स्नातीति – यह उपलक्षण मात्र है, इससे ष्णै वेष्टने इस धातु से भी उण् प्रत्यय करने पर भी स्नायु पद सिद्ध हो जाता है। सारे शरीर को ढकता है अतः 'स्नायुः' कहलाता है। क्षीरस्वामी के अनुसार 'स्नायत्यङ्गं स्नायुः'।[१६२] **ध्वनेर्विकार इति – 'काकुः स्त्रीभिन्नकण्ठोत्थशशोककोपादिवैकृतात्'**[१६३] ऐसा वैजयन्ती में कहा गया है। **वासुरिति – वासुश्चासौ देवश्च** अर्थात् जिसमें संसार निवास करता है तथा देवता भी है ऐसा सत्, चित्, आनन्द लक्षणों वाला जगदीश्वर। जैसा कि भाष्यकार ने कहा भी है – 'नैषा क्षत्रियाख्या, संज्ञैषा तत्र भवगतः[१६४]' अभिप्राय है कि परमात्मा की 'वासुदेव' यह संज्ञा है। **छन्दसीणः।।।२।**

उदा. – आयुः

दयानन्द-वृत्ति – वेद इण् धातोरुण्। एति प्राप्नोति सर्वानिति आयुः जीवनकालः। सान्तस्तु द्वितीयपादे वक्ष्यते।

विवरण – यहाँ 'इण् गतौ' इस अदादिगण के धातु से उण् किया गया है **एति प्राप्नोति सर्वानिति** – जो सबको प्राप्त होती है ऐसी वस्तु सामान्य को 'आयुः' पद से कहा जा सकता है। अतः 'आयुः' यह यौगिक प्रक्रिया से प्राप्त अर्थ है। वेद में शतशः श्रुत इस 'आयुः' शब्द के विभिन्न भाष्यकारों द्वारा कृत अर्थ का दिङ्निर्देशमात्र यहाँ किया जाता है। 'आ तू न इन्द्रे' इस ऋच्चा के व्याख्यान में स्वामी दयानन्द लिखते हैं (आयुः) जीवनम्। 'तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा'[१६५] इस ऋचा के व्याख्यान में स्वामी दयानन्द लिखतें हैं (आयुः) वयः। 'आ नासत्या त्रिभिरेकादशरिह.'[१६६] इस ऋचा के व्याख्यान में स्वामी दयानन्द लिखते हैं (आयुः) जीवनम्। सायण ने भी

'अस्ति हि ष्मा मदाय वः'[१६७] **'सुशंसो बोधि गृणते'**[१६८] एवं **'य उदृचीन्द्रः देवगोपाः'**[१६९] इन ऋचाओं के व्याख्यान में जीवन अर्थ ही 'आयु' शब्द का किया है। इस प्रकार यह शब्द प्रायः जीवन के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है अतः स्वामी दयानन्द इसका योगरूढ अर्थ भी यही करते हैं **जीवनकालः** क्योंकि प्रत्येक वस्तु को जीवनकाल प्राप्त होता है अतः यह अर्थ भी यौगिक अर्थ के अनुगत है।

नारायण भट्ट अपनी उणादिवृत्ति में 'आयुः' पद के विषय में लिखता है 'गच्छन्तीति आयवः मर्त्याः'[१७०] दशपादी वृत्तिकार लिखता है 'जटायुः – गृध्रराजः'।[१७१]

दृसनिजनि चरिचटिरहिभ्यो ञुण्।।३।।

उदा. दारु। सानुः। जानु। चारु। चाटु। राहुः।

द. वृत्ति– दीर्यते भिद्यते इति दारु, काष्ठं वा। सनति सम्भजति सनोति ददाति वा स सानुः, पर्वतैकदेशशृङ्गनुघमार्गवात्यापर्णवनानि च सानूनि वा। जायन्तेऽस्मात् तत् जानु, जङ्घाया उपरिभागो वा। जनिवध्योश्च (अ. ७।३।३५) इति प्रतिषिद्धाऽप्यनुबन्धद्वयसामर्थ्यात्वृद्धिर्भवति। चरति चक्षुरादिष्विति चारु शोभनम्। चटति भिनत्तीति चाटु, प्रियं वचो वा। रहति त्यजति दोषानिति राहुः, ग्रहविशेषो वा।

दीर्यते भिद्यते इति दारु – इससे यौगिक अर्थ को कहा गया है जिसके विभाग किये जाते हैं वह 'दारुः' इस यौगिक अर्थ का अनुगमन करते हुए 'प्र सम्राजो असुरस्य प्रशस्तिं'[१७२] इस ऋचा की व्याख्या में स्वामी दयानन्द सरस्वती 'दारुम्' पद का अर्थ 'दुःखविदारकम्' ऐसा करते हैं।

काष्ठं वा–यह योगरूढ अर्थ है। **'तिग्मं चिदेम महि वर्पो.**[१७३]**'** **'शुनमष्टाव्यचरत्कपर्दी.**[१७४]**'** **'गामङ्गैष आह्वयतिदार्व.**[१७५]**'** **अदोयद्दारुप्लवतेसिन्धोः**[१७६] इन मन्त्रों की व्याख्या में स्वामी दयानन्द सरस्वती एवं सायण ने 'दारुः' पद का 'काष्ठम्' यह अर्थ किया है।

सनति सम्भजति सनोति ददाति वा स सानु – यह यौगिक अर्थ सानुशब्द का प्रदर्शित किया है अर्थात् जो भली प्रकार से प्राप्त होता है, और जो देता है, वह सानु कहाता है। 'ताभ्यामन्यत्रोणादयः'[१७७] इस सूत्र को ध्यान में रखते हुए **'त्वं दिवो बृहतः सानुकोषयौ.'**[१७८] इस ऋचा की व्याख्या करते हुए करण कारक में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सानु के यौगिक अर्थ को इस प्रकार व्याख्यात किया है – **'सनन्ति संभजन्ति येन कर्मणा तत्'। पर्वतैकदेशशृङ्गबुध्मार्गवात्यापर्णवनानि च** – इससे रूढ अर्थों को दर्शाया है। यहाँ शृङ्ग शब्द से पशु आदि का सींग विवक्षित है, पर्वत की चोटीं नहीं क्योंकि पर्वत की चोटी को 'पर्वतैकदेश' द्वारा कहा जा चुका है। 'आ स्वमद्म युवमानौ'[१७९] इस ऋचा की व्याख्या में स्वामी दयानन्द सरस्वती **'सानुः'** शब्द का अर्थ करते हैं **'मेघस्य शिखरः'। 'गृणानो अङ्गिरोभिर्दस्म.'** [१८०]**'अजोहवीदश्विना वर्तिका.'**[१८१] **'अस्मबहूनामवसायसख्ये'**[१८२] इन ऋचाओं की व्याख्या में सायण 'सानुः' पद का अर्थ करते हैं 'समुच्छ्रितप्रदेशम्'। **'अधाय्यग्निर्मानुषीषु.'**[१८३] इस ऋचा की व्याख्या में सायण 'उच्छ्रितम्' ऐसा अर्थ करते हैं। 'देवैर्नो देव्यदितिर्निपातु.'[१८४] इस ऋचा की व्याख्या में 'समुच्छ्रितम्' ऐसा अर्थ करते हैं।

जायन्ते अस्मात् तत् जानु – इससे यौगिक अर्थ प्रदर्शित करते हैं जहाँ से भी प्रादुर्भाव होता है उसे 'जानुः' पद से अभिहित किया जा सकता है।

जङ्घाया उपरिभागो वा – इससे 'जानुः' पद के योगरूढ अर्थ को दर्शा रहे हैं।

चरति चक्षुरादिष्विति – इससे यौगिक अर्थ को दर्शा रहे हैं। **शोभनम्** – यह योगरूढ अर्थ है। **'कस्य नूनं कतमस्यामृताना.'**[१८५] **'स इद्वने नमस्युभिर्वचस्यते**[१८६]**'** एवं **'अस्येदु मातुः सवनेषु.'**[१८७] इन ऋचाओं की व्याख्या में स्वामी द. सरस्वती ने 'चारुः' पद का अर्थ

सुन्दरम् किया है। **'अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृताना.'**[१८८] इस ऋचा की व्याख्या में 'पवित्रम्' इस प्रकार 'चारुः' पद को व्याख्यात करते हैं। **चटति भिनत्तीति चाटु** – इससे यौगिक अर्थ को दर्शा रहे हैं, **प्रियं वचो वा**–यह योगरूढ अर्थ है। **रहति त्यजति दोषान् इति राहुः** – जो दोषों को छोड़ देता है वह 'राहुः' कहलाता है। **ग्रह विशेषोवा** – यह रूढ अर्थ है।

किञ्जरयोः श्रिणः।।४।।

उदा. – किंशारुः, जरायुः।।

स्वा. द. वृत्तिः – किं शृणात्यनेनेति किंशारुः, धान्यविशेषो वा। जरां जीर्णतामेति इति जरायुः गर्भाशयो, गर्भावरणं वा।।

विवरण - किं शृणात्यनेनेति – कुछ स्थानों पर शीर्यतेऽनेनेति पाठ मिलता है, वह उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।

जरां जीर्णतामेति इति जरायुः – जो नष्ट हो जाता है वह 'जरायुः' कहलाता है। यह यौगिक अर्थ है। यौगिक अर्थ का ही आश्रय करते हुए 'क्षत्रस्योल्बमसि क्षत्रस्य जरायवसि.'[१८९] इस यजुर्वेद के मन्त्र की व्याख्या करते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'जरायुः' पद का अर्थ 'वृद्धावस्था प्रापकम्' ऐसा किया है। एवं बहुल ग्रहण के कारण करण कारक में व्युत्पत्ति करते हुए **'हिमस्य त्वा जरायुणाग्ने परि व्यया.'**[१९०] इस मन्त्र की व्याख्या में स्वा. द. सरस्वती ने 'जरायुणा' पद का अर्थ 'जरायति येन जरायुः वस्त्रेण अग्निना वा' ऐसा किया है।

गर्भाशयो गर्भावरणं वा – यह योगरूढ अर्थ है। सायण ने 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतु.'[१९१] इस ऋचा की व्याख्या में 'जरायुः' का अर्थ 'जरायुजम्' किया है। **'यथा वातो यथा मनो यथा समुद्र'**[१९२] इस ऋचा की व्याख्या में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'जरायुणा' का अर्थ 'देहावरणेन' किया है, जो योगरूढ अर्थ के अनुकूल है।

त्रो रश्च लः ।।५।।

उदा. - तालु

स्वा. द. वृत्ति – तृ धातोर्ञुण् रेफस्य लत्वम्। तरन्ति निःसरन्ति वर्णा यत इति तालुः मुखैकदेशः।।

विवरण - **मुखैकदेश** – यह योगरूढ अर्थ है। 'शादं दद्भिरवकान्दन्त– मूलैर्मृदं बस्वैस्तेगान्द्रष्ट्राभ्यां'[१६३] इस मन्त्र की व्याख्या में स्वा. द. सरस्वती ने इस योगरूढ अर्थ को ही रखा है।

कृके वचः कश्च।।६।।

उदा. - **कृकवाकुः।।**

स्वा. द. वृत्ति – कृकोपपदात् वचधातोर्ञुण् कृकेन कण्ठेन वक्तीति कृकवाकुः यवनादिर्मयूरो वा।

विवरण – कृकोपपदात् इति सायण ऋग्भाष्य[१६४] में कृक शब्द को हिंसा अर्थ में भी प्रयुक्त स्वीकार करते हैं। दयानन्द एवं सायण अपने ऋग्भाष्य[१६५] में दाश धातु से भी ञुण् प्रत्यय कर के 'कृकदाशुः' शब्द को भी निष्पन्न करते हैं।

भृमृशीङ्तृचरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य उः।।७।।

उदा. – भरुः। मरुः। शयुः। चरुः। त्सरुः। तनुः। धनुः। मद्गुः।

स्वा. द. वृत्ति – भरति बिभर्ति वेति भरुः स्वामी। म्रियन्ते भूतान्यस्मिन्निति मरुः निर्जलो देशो वा। शेतेऽसो शयुः शयनशीलः। यस्तरति येन वा स तरुः वृक्षो वा। चरति चर्यते अग्निना भक्ष्यते इति चरुः यज्ञपाको वा। त्सरति कुटिलं गच्छतीति त्सरुः खड्गमुष्टिर्वा। तन्यन्ते कर्माण्यनेनेति तनुः शरीरं, स्वल्पं वा। धन्यते धनं प्राप्यतेऽनेनेति धनुः शास्त्रं शस्त्रं वा। मिनोति सुशब्दं प्रक्षिपतीति मयुः वानरो वा। मज्जति शुद्धो भवतीति मद्गुः जलप्लवी पक्षी वा। न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वम्।

बाहुलकात्–गण्डति सा गण्डुः वदनैकदेशः, उपधानम् 'तकिया' इति प्रसिद्धं तैलं वा।

विवरण – शयुः – 'जो सोता है' यह इसका यौगिक अर्थ है, बहुल ग्रहण से 'जो सब जीवों को सुलाता है' ऐसा अर्थ भी किया जा सकता है। स्वा. द. सरस्वती ने 'त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरस्तमः कविर्देवानांपरिभूषसि व्रतम्'[१९६] इस ऋचा की व्याख्या में 'यः प्रलये सर्वाणि भूतानि शाययति' ऐसा अर्थ किया है। 'शयुः परस्तादध नु द्विमाताबन्धनश्चरति.'[१९७] इस ऋचा की व्याख्या में 'यो अभिव्याप्य शेते' ऐसा अर्थ किया है। 'चर्यते **अग्निनाभक्ष्यत इति**' यह चरुः पद का यौगिक अर्थ है।

'अग्नये गायत्राय त्रिवृते'[१९८] इस मन्त्र की व्याख्या में स्वा. द. सरस्वती ने 'चरुः' का अर्थ पाकविशेष किया है। 'इन्द्रासोमा समघशंसमभ्यघं तपुः'[१९९] ऐसा अर्थ किया है जो 'पाकविशेष' को ही संकेतित करता है। 'चर्यते' इस यौगिक विश्लेषण का आश्रय लेते हुए 'स नो वृषन्नमुं चरुं सत्रादावन्नप्रावृधि'[२००] इस ऋचा की व्याख्या में स्वा. द. सरस्वती ने 'ज्ञानलाभं मेघं वा' ऐसा अर्थ किया है। यौगिक अर्थ का ही आश्रय लेते हुए 'यन्नीक्षणं मांस्पचन्या उखायाः'[२०१] इस ऋचा की व्याख्या में 'चरूणाम्' पद का अर्थ 'अन्नादिपच– नाधाराणाम्' ऐसा किया है। **त्सरति कुटिलं गच्छतीति** यह यौगिक अर्थ है। इसी अर्थ का आश्रय लेते हुए 'आ मां मित्रावरुणेह रक्षतं कुलायय.'[२०२] इस ऋचा की व्याख्या में सायण ने 'त्सरु' पद का अर्थ 'छद्मगामी' ऐसा किया है। **धन्यते धनं प्राप्यतेऽनेन** – जिससे धन को प्राप्त किया जाये वह 'धनुः' पद का अभिधेय होगा।

शास्त्रं शस्त्रं वा –यह योगरूढ अर्थ है। 'आ हर्यताय धृष्णवे धनुष्तन्वन्ति'[२०३] एवं 'धनुर्हस्तादाददानो मृतस्यास्मे'[२०४] इन दो ऋचाओं की व्याख्या में वेंकटमाधव ने तथा 'जाम्यतीतपे धनुर्वयोधा अरुहद्वनम्'[२०५] इस ऋचा की व्याख्या में सायण ने एवं 'विज्यन्धनुः कपर्दिनो विशल्यो.'[२०६] 'या

ते हेतिर्मीढुष्टम हस्ते बभूव.'[२०७] 'अवतत्य धनुष्ट्वं सहस्राक्ष शतेषुधे'.[२०८]

'धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः'[२०९] इन यजुर्वेद के मंत्रों की व्याख्या में स्वा. दया. सरस्वती ने इस योगरूढ अर्थ का ही प्रायः आश्रय लिया है। **जलप्लवी पक्षी वा** – 'पक्षी' यह योगरूढ़ अर्थ है। 'सुपर्णः पार्जन्यः आतिर्वाहसो दर्विदा ते.'[२१०] इस मन्त्र की व्याख्या में स्वा. द. सरस्वती ने 'मद्‌गुः' पद का अर्थ 'जल का कौआ किया है।' 'सोमाय हंसानालभते वायवे बलाका इन्द्रा'[२११] इस मन्त्र की व्याख्या में 'मद्‌गून्' पद का अर्थ स्वा. द. सरस्वती ने 'जल के कौओं और शुतुरमुर्गों को' ऐसा किया है।

अणश्च ।।८।।

उदा. – अणुः।

स्वा. द. वृ. – अणति शब्दयतीति अणुः अतिसूक्ष्मं वा अत्र चकारग्रहणाद् विभजतीति वटुः द्विजसुतो वा।।

विवरण – अणतिशब्दयतीतिः – इससे यौगिक अर्थ को दर्शाया गया है। इसके अनुसार ही 'व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे.' इस मन्त्र की व्याख्या में स्वा. द. सरस्वती ने 'अणवः' इस पद का अर्थ 'सूक्ष्मतण्डुलाः' ऐसा किया है। 'इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता मे.'[२१२] इस मन्त्र की व्याख्या में स्वा. दयानन्द सरस्वती ने 'अण्वीभिः' पद का अर्थ 'अङ्गुलीभिः' किया है। 'इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायव.'[२१३] इस ऋचा की व्याख्या में स्वा. दयानन्द सरस्वती ने 'अण्वीभिः' पद का अर्थ **'कारणैः प्रकाशावयवैः किरणैरङ्गुलीभिर्वा' ऐसा किया है 'तमीमण्वीः समर्य आगृभ्णन्तियोषणोदश'**[२१४]

इस ऋचा की व्याख्या में सायण ने 'अण्वीः' पद को अङ्गुलयः अर्थ में व्याख्यात किया है। इसी प्रकार **'अतिश्रितीतिरश्चतागव्याजिगात्यण्व्या'**[२१५] **'एषधिया यात्यण्व्या शूरो रथेभिराशुभिः'**[२१६] एवं 'तममृक्षन्त वाजिनमुपस्थे अदितेरधि.' इन ऋचाओं की व्याख्या में सायण ने अण्व्या पद का अर्थ 'अङ्गुल्या' ऐसा किया है।

धान्ये नित् ।।६।।

उदा. – अणवः

स्वा. द. वृत्ति – अणन्ते शब्दायन्ते यैस्ते अणवः अन्नविशेषा वा। नित्करणमाद्युदात्तस्वरार्थम्।।

विवरण–उज्ज्वलदत्त[२१७] एवं भट्टोजिदीक्षित 'फलिपटिनमिमनिजनां गुंक्पटिनाकिधतश्च'[२१८] इस सूत्र तक नित् का सम्बन्ध है ऐसा मानते हैं। दशपादी वृत्तिकार तो 'यो द्वे च'[२१६] इस सूत्र तक नित् ग्रहण की अनुवृत्ति करता है। क्योंकि इससे अगले[२२०] सूत्र में वह लिखता है 'निद् इति निवृत्तम्' इति। 'शिशुर्नामासिः'[२२१] इस यजुर्वेद के मन्त्र में ययु एवं शिशु शब्द आद्युदात्त पढ़े हैं। जो अथर्ववेद में (४।२४।२) 'ययुः' यह पद अन्तोदात्त पढ़ा है, यह प्रमादयुक्त प्रतीत होता है। सायण तो यहाँ पर 'युयुः' ऐसा पाठ मानता है। **'शिश्वा शिशुर्दूरेभा'**[२२२] इस मन्त्र के व्याख्यान में शिशु शब्द के नित् होने के कारण आद्युदात्त होगा ऐसा सायण का कथन है। **'कुरुगार्हपतरिक्तगुर्वसूतजरत्य.'**[२२३] इस सूत्र में लघुशब्देन्दुशेखर में नागेश ने कुरु शब्द के आद्युदात्त के लिये नित् की अनुवृत्ति कुछ लोगों के मत में मानी है। काशिकाकार तो कुरुशब्द को अन्तोदात्त कहते हैं। निघण्टु में ऋत्विक्[२२४] नामों में कुरु शब्द अन्तोदात्त पठित है। शतपथ २।४।४।५ में तो आद्युदात्त ही देखा जाता है। श्वेतवनवासी तो 'अर्जिदृशि'[२२५] इस सूत्र तक नित् की अनुवृत्ति स्वीकार करता है। अगले[२२६] सूत्र में व्युत्पाद्यमान भृगुशब्द भी आद्युदात्त ही देखा जाता है। मध्य में कुछ शब्द अन्तोदात्त भी देखे जाते हैं। वहाँ पर बहुलग्रहण से स्वरव्यत्यय जानना चाहिये। वास्तव में तो नित् की अनुवृत्ति सन्दिग्ध ही है।

शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च।।१०।।

उदा. – शरुः। स्वरुः। स्नेहुः। त्रपु। असुः। वसु। हनुः। क्लेदुः। बन्धु। मनुः।

स्वा. द. वृत्ति – अत्र चाद् उप्रत्ययो निदिति सम्बन्धः, एवमर्थ एव पृथक् पाठः। शृणाति हिनस्ति येनेति शरुः आयुधं कोपो वा। स्वयन्त उपतप्यन्ते प्राणिनोऽनेनेति स्वरुः वज्रम् (वा)। स्निह्यति यस्मिन् स स्नेहुः, व्याधिर्वा। अग्निं प्राप्य यत् त्रपते लज्जितमिव भवति तत् त्रपु सीसकं रङ्गं वा। अस्यति प्रक्षिपति वायुमिति असुः प्राणः। असुं प्राणं राति ददातीति असुरो मेघः। वस्त आच्छादयति दुःखं येन तद् वसु धनं वा; वसन्ति प्राणिनो येषु ते वसवः अग्न्यादयोऽष्टौ। हन्यतेऽनेनेति हनुः कपोलावयवः प्रहरणं मृत्युर्वा। क्लिद्यत्यार्द्री करोति चित्तमिति क्लेदुः चन्द्रमा वा। प्रेम्णा बध्नातीति बन्धुः सज्जनो वा। मन्यते चराचरं जगज्जानातीति मनुः ईश्वरः मनुतेऽवबुध्यते शास्त्रमिति मनुः विद्वान् राजर्षि।

बहुलवचनात् – बिन्दत्यवयवीभवतीति बिन्दुः परिमाणं जलादिकणो वा।

विवरण - शृणाति हिनस्ति येनेति शरुः – 'ताभ्यामन्यत्रोणादयः' इस सूत्र के अनुसार यहाँ करण में व्युत्पत्ति की गई है। 'प्र नु यदेषां महिना चिकित्रे प्रयुञ्जन्ते प्रयुजस्तै.'[२२७] इस ऋचा की व्याख्या में स्वा. दयानन्द ने 'शरुः' पद का अर्थ हिंसकः किया है। 'युयोताशरुमस्मदाँ आदित्यास उतामतिम्.'[२२८] इस ऋचा की व्याख्या में सायण ने 'शरुम्' पद का अर्थ 'हिंसकम्' किया है। **स्वयन्त उपतत्यन्ते प्राणिनोऽनेन** –इससे यौगिक अर्थ को दर्शाया है। इसी अर्थ का आश्रय करते हुए स्वा. द. सरस्वती ने 'प्रत्यर्चि रुशदस्या अदर्शि वि तिष्ठते बाधते कृष्णमम्वम्'[२२९] इस ऋचा की व्याख्या 'स्वरूं' पद का अर्थ 'तापकमादित्यम्' ऐसा किया है तथा 'बृहन्निदिध्म एषां भूरि शस्त्रं पृथुः स्वरुः'[२३०] इस मन्त्र की व्याख्या में 'स्वरुः' पद का अर्थ 'प्रतापकः' ऐसा किया है। 'शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः'[२३१] इस ऋचा की व्याख्या में सायण ने 'स्वरूणां' पद का अर्थ 'यूपानाम्' ऐसा किया है। **प्राणः** – इससे योगरूढ अर्थ को दर्शाया है। 'आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन्गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्'[२३२] इस ऋचा की व्याख्या में स्वा. दया. सरस्वती ने 'वसुः' पद को 'एकः' का

विशेषण दर्शाते हुए 'प्राणभूतः' ऐसा अर्थ किया है। 'प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मेऽसुश्च मे चित्तं च म आधीतम्.'[२३३] इस मन्त्र की व्याख्या में 'असुः' पद का अर्थ 'नागादिर्मरुत्' ऐसा किया है। 'उदीर्ध्वं जीवो असुर्न अगादप.'[२३४] 'को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्त यदनस्था बिभर्ति' 'विश्वे देवासश्चमसेषून्नीतो–ऽसुर्होमायोद्यतो रुद्रो.'[२३५] एवं 'आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना.'[२३६] इन मन्त्रों के व्याख्यान में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'असुः' पद का अर्थ 'प्राणः' किया है। **वसु** :– हेमचन्द्र सूरि द्वारा प्रणीत स्वोपज्ञ उणादिगणविवृत्ति में वसु शब्द के 'वस निवासे' धातु से बनाया है। उसी के अनुसार 'अद्या दूतं वृणीमहे वसुमग्निं पुरुप्रियम्'[२३७] इत्यादि ऋचा के व्याख्यान में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वसु पद का अर्थ 'सकलविद्यानिवासम्.' ऐसा किया है। 'अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सूनुं सहसो जातवेदसम्'[२३८] इस ऋचा के व्याख्यान में 'वसुम्' पद का अर्थ 'ब्रह्मचर्येण कृतविद्यानिवासम्' ऐसा किया है। 'अग्निरिषां सख्ये ददातु न ईशे यो वार्याणाम्'[२३९] इत्यादि ऋचा के व्याख्यान में सायण ने 'वसुम्' पद का अर्थ 'वासकम्' ऐसा किया है। 'वसुं न चित्रमहसंगृणीषे वामंशेवमतिथिमद्विषेण्यम्'[२४०] इत्यादि ऋचा के व्याख्यान में स्वामी द. दयानन्द सरस्वती ने 'वसुम्' पद का अर्थ 'वासकम्' किया है। 'हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोतावेदिषदतिथिर्दुरोणसत्.'[२४१] इस मन्त्र की व्याख्या में स्वामी सरस्वती ने 'वसु' पद का अर्थ 'सज्जनेषु वस्ता तेषां वासयिता वा' किया है। 'अग्ने त्वं नो अन्त उत त्राता शिवो भवा वरूथ्या.'[२४२] इस मन्त्र की व्याख्या में स्वामी सरस्वती ने 'वसु' पद का अर्थ विद्यासु वासयिता किया है। **कपोलाऽवयव** – इससे 'हनुः' पद का योगरूढ़ अर्थ प्रदर्शित किया है। इसी अर्थ का आश्रय करते हुए 'दष्ट्रभ्यां मलिम्लून् जम्भ्यैस्तस्कराँ उत.'[२४३] इस मन्त्र की व्याख्या में स्वा. द. सरस्वती ने 'हनुभ्याम्' पद का अर्थ 'मसूड़ों से' ऐसा किया है। इसी प्रकार **'शादं दद्भिरवकां दन्तमूलैर्मृदं बर्स्वैस्तेगांदंष्ट्राभ्यां सरस्वत्या.'**[२४४] इत्यादि मन्त्र की व्याख्या में 'हनुभ्याम्' पद का अर्थ

'मुखैकदेशाभ्याम्' ऐसा किया है। **प्रेम्णा बध्नातीति बन्धुः** – इससे यौगिक अर्थ प्रदर्शित किया है 'अदित्यास्त्वा मूर्द्धन्नाजिघर्मि देवयजने पृथिव्या.'[२४५] इत्यादि मन्त्र की व्याख्या में 'बन्धुः' पद का अर्थ स्वा. द. सरस्वती द्वारा भ्राता किया गया है। ऐसा ही अर्थ 'पवित्रे स्थो वैष्णव्यो सवितुर्वः प्रसव.'[२४६] इस मन्त्र की व्याख्या में किया गया है। 'स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि.'[२४७] इत्यादि मन्त्र की व्याख्या में स्वा. द. सरस्वती ने 'बन्धुः' पद का अर्थ 'भाई के तुल्य मान्य सहायक' ऐसा किया है 'तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो.'[२४८] इत्यादि ऋचा की व्याख्या में सायण ने 'बन्धु' पद का अर्थ 'हितकरः' किया है। 'द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता'[२४९] इत्यादि ऋचा की व्याख्या में सायण ने 'बन्धुः' पद का अर्थ 'बन्धिका' ऐसा किया है।

राजर्षिः विद्वान् – यह 'मनुः' पद का योगरूढ़ अर्थ है। 'नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते.'[२५०] इस ऋचा के व्याख्यान में स्वा. द. सरस्वती ने 'मनुः' पद का अर्थ 'विज्ञानन्यायेन सर्वस्याः प्रजायाः पालकः' ऐसा किया है। 'यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ्धियमत्नत'[२५१] इत्यादि ऋचा के व्याख्यान में स्वा. द. सरस्वती द्वारा 'मनुः' पद का अर्थ विज्ञानवान् किया गया है। 'स पूर्व्यो महानां वेनः क्रतुभिरानजे'[२५२] इस ऋचा के व्याख्यान में सायण ने 'मनुः' पद का अर्थ 'मनुः' ही किया है।

स्यन्देः सम्प्रसारणं धश्च ।।११।।

उदा. – सिन्धुः।

स्वा. द. वृत्ति. – स्यन्दन्ते प्रस्रवन्त्युदकान्यस्मिन्निति सिन्धुः।

विवरण - प्रस्रवन्त्युदकान्यस्मिन्निति – सम्प्रदान एवं अपादान कारक से अन्यत्र उणादि प्रत्ययान्तों की वृत्ति सम्भव है, अतः यहाँ अधिकरण कारक में 'सिन्धुः' पद की व्युत्पत्ति दर्शाई गई है। 'पुष्टिर्न रण्वा क्षितिर्न पृथ्वी गिरिर्न.'[२५३] इस ऋचा के व्याख्या में स्वा. द. सरस्वती ने 'सिन्धुः'पद का अर्थ 'समुद्रः' किया है। ऐसा ही अर्थ 'तं वश्चराथा वयं वसत्याऽस्तं न गावो.'[२५४] इस ऋचा के व्याख्यान में

किया गया है। 'प्र क्षोदसा धायसा सस्त एषा सरस्वती.'[२५५] इस ऋचा के व्याख्यान में सायण ने 'सिन्धुः' पद का अर्थ 'स्यन्दनशीला नदीरूपा' किया है। 'उत स्या श्वेतयावरी वाहिष्ठा वां नदीनाम्.'[२५६] इस ऋचा के व्याख्यान में 'स्यन्दमाना' ऐसा अर्थ किया गया है। 'उत नः सिन्धुरपां तन्मरुतस्तदश्विना.'[२५७] इत्यादि ऋचा के व्याख्यान में 'सिन्धुः' पद का अर्थ 'स्यन्दनशीलः पर्जन्यः' ऐसा किया गया है।

उन्देरिच्चादेः ।।१२।।

उदा. – इन्दुः।

स्वा. द. वृत्ति. – उन्दधातोरुः प्रत्यय आदिवर्णस्येकारादेशश्च। उनत्त्यार्द्रीं करोति पदार्थानिति इन्दुः चन्द्रमा वा।।

विवरण - उनत्त्यार्द्रीकरोति पदार्थानिति – इससे 'इन्दुः' पद के यौगिक अर्थ को कहा गया है। 'अध प्र जज्ञे तरणिर्ममत्तु प्र रोच्यस्या'[२५८] इस ऋचा के व्याख्यान में स्वा. द. सरस्वती ने इन्दुः पद का अर्थ 'सविता' किया है। सविता पद सूर्य के लिये प्रयुक्त होता है। सूर्य तो शोषण करने वाला है फिर जो पदार्थों को आर्द्र करता है, यह सूर्य के लिये कैसे प्रयुक्त हो सकता है। यहां ऐसा जानना चाहिये कि क्योंकि सूर्य मेघों के माध्यम से वृष्टि करता है, अतः उसे ही 'आर्द्र करता है जो पदार्थों को' ऐसा कहकर सम्बोधित किया जा सकता है। **'मत्स्यपायि ते महः पात्रस्येव हरिवो मत्सरो मदः'**[२५९] इस ऋचा की व्याख्या में स्वामी द. सरस्वती ने 'इन्दुः' पद का अर्थ 'ऐश्वर्यकरः' किया है। **'त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृम्पत्सोम.'**[२६०] इत्यादि ऋचा के व्याख्यान में 'इन्दुः' पद का अर्थ चन्द्रः किया है।

ईषेः किच्च ।।१३।।

उदा. – इषुः।

स्वा. द. वृत्ति. – अत्र चकारादिच्चादेरित्यनुवर्त्तते तेन दीर्घस्य ह्रस्वो भवति। ईषति गच्छति हिनस्ति वा शत्रूनिति इषुः बाणो वीरो वा। कित्त्वाद् गुणाभावः।

विवरण - बाणो वीरो वा – यह योगरूढ़ अर्थ है। सायण ने 'शतबध्न इषुस्तव सहस्त्रवर्ण एक इत्.'[२६१] 'इषुर्न धन्वन्प्रतिधीयते मतिर्वत्सो न मातु.'[२६२] एवं 'इषुर्नश्रिय इषुधेरसनागोषाः शतसान.'[२६३] ऋचा की व्याख्या में 'इषुः' पद का अर्थ बाण ही किया है।

स्कन्देः सलोपश्च ।।१४।।

उदा. – कन्दुः।

स्वा. द. वृत्ति. – स्कन्दति गच्छति शुष्यति वा येन स कन्दुः कुमाराणां क्रीडायै 'गेंद' इति प्रसिद्धं वा।।

विवरण – क्योंकि इसके कारण बालक गति करते हैं अतः इसे 'कन्दुः' कहा गया है।

सृजेरसुम् च ।।१५।।

उदा. – रज्जुः।

स्वा. द. वृत्ति. – अत्र पूर्वसूत्रात् सलोप इत्यनुवर्त्तते। धातोरसुमागम आदिसकारलोपश्च। पुनर्ऋकारस्य यणादेश आगमसकारस्य जश्त्वं च। सृजन्त्युदकनिस्सारणायेति रज्जुः जलोद्धरणं वा।।

विवरण – असुम् आगम के विधान सामर्थ्य से यहां आगम सकार का लोप नहीं होगा अपितु धातु के ही सकार का लोप होगा। 'श्वेतवनवासी' तो एक पक्ष में मण्डूकप्लुतगति से आदिग्रहण की अनुवृत्ति लाता है। 'यद्वाजिनो दाम सन्दानमर्वतो या शीर्षण्या रशना रज्जुरस्य.' इस मन्त्र के व्याख्यान में स्वामी द. सरस्वती ने 'रज्जुः' पद का अर्थ रस्सी किया है।

कृतेराद्यन्तविपर्ययश्च ।।१६।।

उदा. – तर्कुः।

स्वा. द. वृत्ति. – आद्यन्तविपर्ययोऽर्थादादौ तकारोऽन्ते ककारः, उश्च प्रत्ययः। कृन्तति छिनत्ति वस्त्रादिकमनेन स तर्कुः 'कर्तनी' वा।।

विवरण – धातु के आदिम व्यञ्जन को अन्त में रखना एवं अन्तिम व्यञ्जन को आदि में करना आद्यन्तविपर्यय कहलाता है।

नावञ्चेः ।।१७।।

उदा. – न्यङ्कुः।

स्वा. द. वृत्ति. – ये नितरामञ्चन्ति गच्छन्ति ते न्यङ्कवः जातिविशेषाः हरिणा वा।।

विवरण – 'न्यङ्कुः' पद में 'न्यङ्क्वादीनां च' इससे कुत्व होगा। 'सोभाय कुलुङ्गऽआरण्योऽनो नकुलाशका ते पौष्णाः.' इत्यादि मन्त्र के व्याख्यान में स्वामी द. सरस्वती ने 'न्यङ्कुः' पद का अर्थ 'मृगविशेष' किया है। इसी प्रकार 'वसुभ्य ऋश्यानालभते रुद्रेभ्यो रुरूनादित्येभ्यो न्यङ्कून्.' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या में 'न्यङ्कून्' पद का अर्थ 'पशुविशेषान्' किया है।

फलिपाटिनमिनिजनां गुक्पटिनाकिधतश्च ।।१८।।

उदा. – फल्गुः। पटुः। नाकुः। मधुः। जतुः।।

स्वा. द. वृत्ति. – उप्रत्यये 'फल' धातोर्गुगागमः। फलति निष्पद्यते स फल्गुः असारो वा। नपुंसके 'फल्गु' फलम्। 'पाटि' धातोः पटिरादेशः। पाटयति ज्ञापयति सदसत्पदार्थान् स पटुः वाग्मी विशारदो वा। 'नम' धातोर्नाकिरादेशः। नमतीति नाकुः वल्मीको वा। 'मन' धातोध ीकारादेशः मन्यन्ते विशेषेण जानन्ति यस्मिन् स मधुः चैत्रो मासः। मध ूको मद्यं क्षौद्रं पुष्परसो वा। 'जन' धातोस्तकारादेशः। जायते प्रादुर्भूयतेऽनेनेति जतु लाक्षा वा।।

विवरण - फलति निष्पद्यते स फल्गुः – इससे यौगिक अर्थ को दर्शाया है। इसी अर्थ का आश्रय लेते हुए स्वामी द. सरस्वती ने 'अनिरेण वचसा फल्वेन प्रतीत्येन कृधुनातृपासः.' इत्यादि ऋचा के व्याख्यान में 'फल्वेन' पद का अर्थ 'महता' किया है। उज्ज्वलदत्त ने अपनी उणादिविवृत्ति में 'मधुः' के विषय में लिखा है।

'मधुश्चैत्रे च दैत्ये च मद्ये पुष्परसे मध्विति हट्टचन्द्रः'

'मधुरर्धर्चादिः।' 'मधुश्चैत्रो मधुर्दैत्यो मधूकोऽपि मधुर्मतः'

मधु मद्यं मधु क्षौद्रं मधु पुष्परसं विदुरिति विश्वः।।

इन्हीं अर्थों का आश्रय करते हुए स्वामी द. सरस्वती ने 'विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्न इन्द्रेण वायुना.' इस ऋचा के व्याख्यान में 'मधुः' पद का अर्थ 'मधुरादिगुणयुक्तम्' ऐसा किया है। 'अश्विना पिबतं मधु दीद्यग्नी शुचिव्रता.' इस ऋचा के व्याख्यान में 'मधु.' पद का अर्थ 'मधुरं रसम्' ऐसा किया है। 'अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु.' इस ऋचा के व्याख्यान में 'मधुः' पद का अर्थ 'मधुरसुखकारकम्' ऐसा किया है।

जतुः - जायते प्रादुर्भूयतेऽनेनेति – इससे यौगिक अर्थ को प्रकट किया है। 'अह्ने पारावतानालभते रात्र्यै सीचापूरहोरात्रयोः सन्धिाभ्यो.' इस मन्त्र के व्याख्यान में स्वामी द. सरस्वती ने 'जतूः' पद का अर्थ 'पक्षिविशेषान्' किया है। इसी प्रकार 'एण्यह्नो मण्डूको मूषिका तित्तिरिस्ते सर्पाणां लोपाश' इत्यादि मंत्र की व्याख्या में 'जतुः' पद का अर्थ 'पक्षिविशेष' किया है।

वलेर्गुक् च ।।१६।।

उदा. – वल्गुः।

स्वा. द. वृत्ति. – वलते संवृणोतीति वल्गुः। नपुंसके वल्गु शोभनम्।

विवरण - वल्गु शोभनम् – इससे योगरूढ अर्थ को दर्शाया है। इसी अर्थ का आश्रय करते हुए सायण ने 'वरेथे अग्निमातपो वदते वल्ग्वत्रये.' इत्यादि ऋचा के व्याख्यान में 'वल्गुः' पद का अर्थ 'मनोहरम्' किया है। श्रीउणादिगणविवृत्ति में हेमचन्द्र सूरि ने वल्गुः पद का अर्थ पक्षी किया है।

शः कित् सन्वच्च ।।२०।।

उदा. – शिशुः।

स्वा. द. वृत्ति. – सन्वद्भावात् द्वित्वादिकम्। श्यति तनूकरोति पित्रोः शरीरमिति शिशुः बालको वा।

विवरण - श्यति तनूकरोति – इससे यौगिक अर्थ को दर्शाया है। इसी अर्थ का आश्रय लेते हुए 'समिद्गच्छन्ति जुह्वस्तमर्वतीर्विश्वान्येकः. ' इत्यादि ऋचा के व्याख्यान में स्वामी द. सरस्वतीने 'शिशुः' पद का अर्थ 'अविद्यादिदोषाणां तनूकर्त्ता' ऐसा किया है। **बालको वाः** – इससे योगरूढ़ अर्थ को दर्शाया है। 'स ईं वृषाजनयत्तासु गर्भं स ईं शिशुर्धयति.' इत्यादि ऋचा के व्याख्यान में स्वामी द. सरस्वती ने शिशुःपद का अर्थ 'बालकः' किया है। 'क्रत्वा हि द्रोणे अज्यसेऽग्ने.' इत्यादि ऋचा के व्याख्यान में सायण ने 'शिशुः' पद का अर्थ 'जातमात्रो बालो त्वम्' किया है। इसी प्रकार 'स वावृधे नर्यो योषणासु वृषा.' इत्यादि ऋचा के व्याख्यान में सायण ने 'शिशुः' पद का अर्थ 'प्रादुर्भावसमये अल्पतया दृश्यमानः' किया है।

यो द्वे च ।।२१।।

उदा. – ययुः।

स्वा. द. वृत्ति. – अत्र सन्वदित्यनुवर्त्तमानेऽपि द्वेग्रहणमभ्यासेत्त्वनि–वृत्त्यर्थम्। यान्ति प्राप्नुवन्ति देशान्तरमनेनेति ययुः अश्वो वा।।

विवरण - याति गच्छतीति ययुः – ऐसा विग्रह भी यहां 'ताभ्यामन्यत्रोणादयः' वचन से किया जा सकता है। इसी विग्रह का आश्रय लेते हुए सायण ने 'वि तद्ययुररुणयुग्भिरश्वैश्चित्रं' इत्यादि ऋचा के व्याख्यान में 'ययुः' पद का अर्थ 'यान्ति' किया है। इसी प्रकार 'युवा नरा पश्यमानास आयं.' इत्यादि ऋचा के व्याख्यान में 'बर्हिराहरणार्थं गच्छन्ति' ऐसा अर्थ 'ययुः' पद का किया है। 'वि वृत्रं पर्वशो ययुर्वि पर्वतां अजाजिनः.' इस ऋचा के व्याख्यान में 'ययुः' पद का अर्थ सायण ने 'वधमगमयन्' किया है।

कुर्भ्रश्च ।।२२।।

उदा. – बभ्रुः।

स्वा. द. वृत्ति. – अत्र द्वे इत्यनुवर्त्तते। 'भृ' धातोः कुप्रत्ययो द्वित्वं च। बिभर्ति सर्वमिति बभ्रुः नकुलः पिङ्गलो वा। सूत्रे चकारग्रहणाद् अन्यधातुभ्योऽपि कुः प्रत्ययस्तेषां द्वित्वं च भवति। तद्यथा–करोतीति चक्रुः कर्त्ता। हन्तीति जघ्नुः हन्ता। पाति रक्षतीति पपुः पालकः इत्यादि।

विवरण - बिभर्ति सर्वमिति – इससे यौगिक अर्थ को दर्शाया है। इसी अर्थ का आश्रय करते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'हवीमभिर्हवते यो हविर्भिरव स्तोमेभी.' इस ऋचा के व्याख्यान में 'बभ्रुः' पद का अर्थ पालकः किया है एवं 'स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रो बभ्रुः शुक्रेभिः.' इत्यादि ऋचा के व्याख्यान में धर्ता किया है। 'बभ्रुरेकः विषुणः सूनरो बभ्रुवर्णः युवाञ्ज्यङ्क्ते हिरण्ययम्.' इत्यादि ऋचा के व्याख्यान में बभ्रुः पद का अर्थ स्वामी द. सरस्वती ने 'शबलतादिषु परिपक्वः' किया है। इसी प्रकार योगरूढ़ अर्थ 'नकुलः पिङ्गलो वा' का आश्रय लेते हुए 'रोहितो धूम्ररोहितो कर्कन्धुरोहितस्ते' इत्यादि मन्त्र के व्याख्यान में 'बभ्रुः' पद का अर्थ 'नकुलसदृशवर्णः' किया है। 'आग्नेयः कृष्णग्रीवः सारस्वती मेषी बभ्रुः सौम्यः पौष्णः श्याम.' इत्यादि मन्त्र के व्याख्यान में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'बभ्रुः' पद का अर्थ 'धूम्रवर्णः' किया है। **पिङ्लो वा** – श्वेतवनवासी ने बभ्रुः शब्द का अर्थ प्रदर्शित करते हुए एक प्राचीन श्लोक को उद्धृत किया है

> 'पिङ्गलो नकुलश्चैव खलतिर्विष्णुरेव च।
> चतुर्ष्वर्थेषु मेधावी बभ्रुशब्दं प्रयोजयेत्।।' उ. वृत्ति १।२२।।

चकारग्रहणात् – दशपादीवृत्तिकार ने 'प्रकृतेः प्राक्प्रत्ययनिर्देशश्च क्र्वादीनां प्रसिद्ध्यर्थः' ऐसा कहा है।

संदर्भ ग्रन्थ

१. अ. ३।३२

२. अ. १।३।१

३. अ. ३।३१

४. अ. ३।२।१८५

५. पं. उ. २।२३, ३३, ८३, ६५, ११३, ५।३५, ६२।।

६. पं. उ. १।१२७

७. पं. उ. पर स्वामी दयानन्दकृत वृत्ति २।८३।

८. उज्जवलदत्त उ. वृ. २/८२ पृ. ८८

६. व्युत्पत्तिसार ह.ले. पृ. १

१०. 'उणोदयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि' महा. १।१।६०

११. महाभा. 'ऋलृक्' सूत्र पर

१२. महाभाष्य 'अथ शब्दानुशासनम्' सूत्र के अन्त में

१३. प. उ. १।११६

१४. निघण्टु १।२४

१५. श्वेत. उ. वृ. १।१११ पृ. ४५।।

१६. पं. उ. ४।२०६, २०६।। १०. काशिका ४।४।१११।।

१७. निघण्टु २।२

१८. पं. उ. ३।८४, ४।५३।।

१६. पं. उ. ३।६२, ५।३४।।

२०. पं. उ. ४।१०७, ५।६।।

२१. निरुक्त २।११।।

२२. निरुक्तशब्द उक्थादिषु (अ. ४।२।६०) पठ्यते, ततष्ठक् (द्र. निरुक्तसमुच्चय, म. सं. पृ. ५)। क्वचिदपावादविषयेऽप्युत्सर्गः प्रवर्तत इति न्यायेन नैरुक्त इत्यपि साधुः।

२३. निरुक्त १।१५।।
२४. पं उ. ५।६
२५. वाक्यपदीय २।१७१, पृ. ६०, लाहौर संस्करण
२६. वाक्यपदीय २।१७५, पृ. ६२, लाहौर संस्करण
२७. है मोणदिवृत्ति पृ. १
२८. यजु. ३।५८
२९. अष्टा. ८।३।५०
३० अ. ६।४।१०८
३१. यजुः दया. भाष्य ३।५८
३२. दश. उ. वृ. १।८६ पृ. ५३।।
३३. हैमोणादिवृत्ति पृ. १
३४. क्षीरतरंगिणी १।६३६
३५. दैवम् पृ. ३४।।
३६. ऋग् १।८२।१
३७. अ. ३।१।५६
३८. अ. ३।४।६
३९. धातुवृत्तिः १।६२९, पृ. २३४
४०. ऋक्सायणभाष्यम् १।८२।१।।
४१. एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद्यथा– शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति, विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमगधेषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु इति। महाभा. पस्पशाह्निक द्र. निरुक्त २।२।।
४२. यथा – अनुकरेदि (= अनुकरति), भासनाटकचक्र पृष्ठ २१८। कर अन्तः (करन्तः = कुर्वन्तः) भासनाटकचक्र पृ. ३३६।

४३. अ. ३ ।४ ।६ ।।

४४. महाभाष्य २ ।१ ।५८ ।।

४५. अ. ३ ।४ ।७५

४६. ३ ।३ ।२ ।।

४७. निरुक्त ६ ।६ ।।

४८. 'यश्चैवं नाभ्यनुजानीयात्' तस्य पाचकमानय पक्ष्यति लावकमानय लविष्यतीति व्यवहारो नोपपद्यते इति। न्यायभाष्य २ ।१।

४६. ६ ।११२ ।३ ।।

५०. निरुक्त ६ ।६ ।।

५१. भट्टि ७ ।२८ ।।

५२. मेदिनी रान्त द्विक पृ. १३३

५३. द्र. उज्ज्वलवृत्ति १ ।१ ।।

५४. महाभाष्य १ ।१। ४७

५५. महाभाष्योद्योत १ ।१ ।४७ ।।

५६. निरुक्त १ ।४ ।५ ।।

५७. वैजयन्तीकोश पृ. २८४ ।

५८. निघण्टु ३ ।१६

५६. हैमोणदिवृत्ति पृ. १ ।

६०. अ. ४ ।१ ।६६

६१. काशिका १ ।३ ।३३ ।

६२. निरुक्त १ ।१६ ।।

६३. निरुक्त २ ।१६ ।।

६४. निरुक्तटीका २ ।१६ भाग २ पृ. ६२ ।।

६५. तै. आ. भाग १, पृ. २७६ ।।

६६. अस्यवामीय पृ. ५४ ।।

६७. दया. यजुर्भाष्य ७।८।।

६८. दया. ऋग्भाष्य १।१३५।४।।

६९. दया. यजुर्भाष्य ६।१६।।

७०. हैमोणादिवृत्ति पृ. १।।

७१. ऋग् १०।४६।७।।

७२. ऋक् सायणभाष्य १०।४६।७।।

७३. यजु १।१।।

७४. तै. सं. भाष्य १।१।१।।

७५. यजुर्भाष्य १।१।। सायण ने भी ऋ. १०।४६।७ के व्याख्यान में 'वायवो गन्तारः' ऐसा कहा है।

७६. कौ. ब्रा. ८।४; जै. उ. ब्रा. ४।२२।११।

७७. यजु, ३२।१

७८. वेदान्तः १।१।२५।।

७९. ऋग् १।१४।१०।।

८०. शत. ब्रा. ४।१।३।१६।।

८१. गोपथ ब्रा. १।१।१३।।

८२. गोपथ ब्रा. १।१।३३।।

८३. ऐ. ब्रा. ८।२७।।

८४. ऐ ब्रा. ५।७; शत. ब्रा. १।६।२।२८।।

८५. ऐ. ब्रा. ४।२६।।

८६. तै. ब्रा. ३।६।४।४।।

८७. छा. उप. ३।१५।२।।

८८. दुर्ग निरुक्तटीका ४।२६।।

८९. दुर्ग निरुक्तटीका।।

९०. पं. उ. ३।२०

९१. महाभाष्य २।४।५६

९२. निरुक्त १०।१।।

९३. ७।१।११५

९४. अ. १।१।४

९५. शत. ब्रा. १।१।४।२२

९६. ऋग् २।२।४।।

९७. दया. ऋग्भाष्य २।२।४

९८. श्वेत. उ. वृ. पृ. १।।

९९. द्र. – बहुलग्रहणं सर्वविधिव्यभिचारार्थम्। काशिका ३।१।८५

१००. नारा. उ.कृ. पृष्ठ १

१०२. सुबोधिनी भा. २, पृ. २०८।।

१०३. व्युत्पत्तिसार पृ. १

१०४. हैमोणादिवृत्ति पृ. १

१०५. दया. यजुर्भाष्य ६।१४।।

१०६. यजुः ६।१४।।

१०७. सुबोधिनी भा. २, पृ. २०८।

१०८. व्युत्पत्तिसार पृ. १

१०९. यजुः ३३।८४

११०. दया. यजुर्भाष्य ३३।८४।।

१११. धातुवृत्तिः १।१६५।। पृ. २३४।।

११२. सि. कौमुदी उ. १।१

११३. धातुप्रदीप पृ. ६६।।

११४. धातुवृत्तिः १।३६६, पृ. १५३।।

११५. सि. कौमुदी उ. १।१

११६. दैवम्, पृ. २२।।

११७. श्वेत. उ. बृ. पृ. १।।

११८. श्वेत. उ. वृ. पृ. ३।।

११६. द. उ. वृ. पृ. ५३।।

१२०. धातुप्रदीप पृ. ६६।।

१२१. वाक्यपदीय ३।७।८८।।

१२२. दश. उ. वृ. पृ. ५३।।

१२३. निघण्टुटीका १।११।।

१२४. दश.उ. वृ. पृ. ५३।।

१२५. अ. ६।१।५०।।

१२६. अ. ७।३।३३।।

१२७. नारा. उ. वृ. पृ. १।।

१२८. अमरकोशं २।६।६२।।

१२६. निघण्टु १।११।।

१३०. दशपादी उ. वृ. पृ. ५३

१३१. यजु. २४।३२

१३२. ऋक् ७।१०३।६

१३३. सायणभाष्य ऋक् ७०३।६

१३४. ऋक् १।१६४।२६।।

१३५. निरुक्त २।६

१३६. पं. उ. १।७।।

१३७. हैमोणादि सूत्र ७।२६।।

१३८. नारायण उ. वृ. पृ. १।।

१३६. श्वेत. उ. वृ. पृ. ३।।

१४०. दश. उ. वृ. पृ. ५४

१४१. दया. ऋग्भाष्य २।२७।६

१४२. अ. ४।१।४४

१४३. हैमोणादिवृत्ति पृ. १

१४४. प.उ. २।२३।।

१४५. ऋक् १।४।७

१४६. दया. ऋग्भाष्य १।४।७

१४७. हैमोणादिवृत्ति पृ. १

१४८. निघण्टु २।१५

१४९. निघण्टु २।१५

१५०. निरुक्त ६।१

१५१. नि. टी. पृ. २६२

१५२. निरुक्त ६।६

१५३. निघण्टु १।१४

१५४. ऋक् १।३७।१४

१५५. दया. ऋग्भाष्य १।३७।१४

१५६. श्वेत. उ. वृ. पृ. ३।।

१५७. अमरकोष २।६।१५

१५८. हैमोणादिवृत्ति पृ. १

१५९. अ. ३।३।१

१६०. दश. उ. वृ. पृ. १७७।।

१६१. महाभाष्य ३।३।१

१६२. क्षीर. अमरटीका पृ. १०२

१६३. वैजयन्ती पृ. ३१, पं. १४

१६४. ऋ. १.१०.११

१६५. १.२४.११

१६६. ऋ. १.२४.११

१६७. ऋ. १.३७.१५
१६८. ऋ. १.४४.६
१६९. ऋ. १.५३.११
१७०. नारायण उणादिवृत्ति १.२.
१७१. दशपाद्युणादिवृत्ति १.८७
१७२. ऋ. ७:६.१
१७३. ऋ. ६ ।३ ।४
१७४. ऋ. १०.१०२.८
१७५. ऋ. १०.१४६.४
१७६. ऋ. १०.१५५.३.
१७७. अष्टाध्यायी ३ ।४ ।७५
१७८. ऋ. १.५४.४.
१७९. ऋ. १.५८.२.
१८०. १.६२.५
१८१. १.११७.६ ऋ.
१८२. ऋ. २.३५.११
१८३. ऋ. ३.५.३
१८४. ऋ. ४.५५.७
१८५. ऋ. १.२४.१
१८६. ऋ. १.५५.४
१८७. ऋ. १.६१.७
१८८. ऋ. १.२४.२
१८९. यजु. १०.७८
१९०. ऋ. ८.२८
१९१. ऋ. १०.१०६.६

१९२. ऋ. ५.७८.८

१९३. यजु. २५.१

१९४. ऋ. १.२९७

१९५. ऋ. १.२९.७

१९६. ऋ. १.३१.२

१९७. ऋ. ३.५५.६

१९८. यजु:. २९.६०

१९९. ऋ. ७.१०४.२

२००. ऋ. १.७.६.

२०१. ऋ. १.१९२.१३

२०२. ऋ. ७.५०.१

२०३. ऋ. ६.६६.१

२०४. ऋ. १०.१८.९

२०५. ऋ. ८.७२.४

२०६. ऋ. १६.१०

२०७. यजु. १६.११

२०८. यजु. १६.१३

२०९. यजु. २६.३९

२१०. यजु. २४ ।३४

२११. यजु. २४ ।२२

२१२. यजु. २०.८७

२१३. ऋ. १.३.४

२१४. ऋ. ६.१.७

२१५. ऋ. ६.१४.६

२१६. ऋ. ६.१५.१

२१७. उ. वृत्ति १।१०

२१८. उ. १।१८

२१९. पञ्च. उ. १।२१

२२०. द. उ. १।१०७

२२१. यजु. २२।१६

२२२. ऋक् १।६५।५

२२३. अ. ६।२।४२

२२४. नि. ३।१८

२२५. उ. १।२७

२२६. उ. १।२८

२२७. ऋ. १.१८६.६

२२८. ऋ. ८.१८.१

२२९. अ. ऋ. १.२५.१

२३०. यजु. ३३.२४

२३१. ऋ. ७.३५.७

२३२. ऋ. १०.१२१.७

२३३. यजु. १८.२

२३४. ऋ. १.११३.१६

२३५. यजु. ८.५८.

२३६. यजु. २७.२५.

२३७. ऋ. १.४४.३.

२३८. ऋ. १.१२७.१.

२३९. ऋ. ८.७१.१३.

२४०. ऋ. १०.१२२.१

२४१. यजु. १२.१४.

२४२. यजु. २५.४७.

२४३. यजु. ११.७८.

२४४. यजु. २५.१.

२४५. यजु. ४.२२.

२४६. यजु. १०.६.

२४७. यजु. ३२.१०.

२४८. ऋ. १.१५४.५.

२४९. ऋ. १.१६४.३३.

२५०. ऋक्. १।३६।१६.

२५१. ऋक्. १।८०।१६.

२५२. ऋक्. ८।६३।१.

२५३. ऋक्. १।६५।३.

२५४. ऋक्. १।६६।५.

२५५. ऋक्. ७।६५।१.

२५६. ऋक्. ८।२६।१८.

२५७. ऋक्. ८।२५।१४.

२५८. ऋक्. १।१२१।६.

२५९. ऋक्. १।१७५।१.

२६०. ऋक्. २।२२।१.

२६१. ऋक्. ८।७७।७.

२६२. ऋक्. ६।६६।१.

२६३. ऋक्. १०।६५।३.

नाम	-	सुश्रुत सामश्रमी
पितृ-नाम	-	(प्रो.) डॉ. सुभाष वेदालंकार प्रभारी संस्कृत विभाग एवं वैदिक वाङ्मय विभाग, महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर
मातृ-नाम	-	श्रीमती मनीषा शास्त्री (जया तनेजा) पूर्व अध्यक्ष संस्कृत विभाग, आर्य स्नातकोत्तर महाविद्यालय, पानीपत
जन्म-तिथि	-	05-06-1978
जन्म-स्थली	-	पानीपत (हरियाणा)
शिक्षा	-	(क) 2001 में एम.कॉम. (ख) 2004 व्याकरणाचार्य (आचार्य विजयपाल विद्यावारिधि जी के चरणों में) (ग) 2006 में एम.ए. (संस्कृत) एवं नैट (यू.जी.सी.)
शिक्षा स्थल	-	**(क) प्राचीन पद्धति से** (1) गुरुकुल पाणिनि धाम पुष्कर, अजमेर 2 वर्ष, (2) गुरुकुल प्रभात आश्रम (टीकरी) भोला झाल मेरठ 3 वर्ष, (3) गुरुकुल रेवली, सोनीपत (हरियाणा) 4 वर्ष **(क) आधुनिक पद्धति से** 1. आदर्श विद्या मंदिर, जयपुर 3 वर्ष, 2. आर्य माध्यमिक विद्यालय, पानीपत 3 वर्ष, 3. आर्य स्नातकोत्तर महाविद्यालय, पानीपत 3 वर्ष, 4. महाराजा अग्रसेन महाविद्यालय, जगाधरी 2 वर्ष (एम.कॉम.), 4. संस्कृत विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर 2 वर्ष (एम.ए. संस्कृत)
वर्तमान में	-	(i) 'वैदिक वाङ्मये व्यापार प्रबन्धनम्' विषय पर शोध जारी (ii) आर्य स्नातकोत्तर महाविद्यालय में प्राध्यापक संस्कृत विभाग एवं वेद प्रचारक (कार्यक्षेत्र-दिल्ली, हरियाणा, पंजाब, हिमाचल)
विशिष्ट अभिरुचि	-	(i) वेद की सार्वभौमिक शिक्षाओं के माध्यम से जनसामान्य में पारस्परिक भ्रातृभाव में वृद्धि करना। (ii) निर्धन भारतीयों में ज्ञान के प्रचार द्वारा उनके कष्टों को कम करने का प्रयास।
भावि-योजना	-	दूरसंचार माध्यमों से जनसामान्य की विद्या में वृद्धि एवं दुःखों को दूर करने का प्रयास।
संस्था सम्बद्धता	-	आर्य समाज, रामदेव धींगडा पब्लिक चेरिटेबल ट्रस्ट, चेतना परिवार, वेद रक्षा प्रतिष्ठान, विश्व संस्कृत प्रतिष्ठान।

अलंकार प्रकाशन, जयपुर

मूल्य : 350/-

मुद्रक : हरिहर प्रिण्टर्स, जयपुर फोन 2600850